अनुभूति के क्षण
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

अनुभूति के क्षण

डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

जिन्हें सम्बोधित हैं यह पत्र
उन्हें सस्नेह समर्पित भी !

पाठकों को सम्बोधित पत्र :

ए २/२ राणाप्रताप बाग, दिल्ली।
१२-६-८०

मान्य बंधुवर,

'अनुभूति के क्षण' में संकलित अपने पत्रों को पढ़ने का बोझ मैं बरबस आप पर डाल रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि आप इसे सहर्ष, स्वेच्छा से स्वीकारेंगे या नहीं; फिर भी चाहता हूँ कि आप मेरे इन पत्रों को स्वकीय भाव से पढ़ें और उस आवरण को हटाकर पढ़ें जो सम्बोधन के रूप में इन पर पड़ा हुआ है।

इन पत्रों के विषय में दो-चार शब्द मैं आपसे कहना चाहता हूँ ताकि आप इनकी सीमा-मर्यादा से परिचित हो सकें। पहले खंड में मेरे वे पत्र हैं जिनका साहित्य की किसी न किसी समस्या-प्रत्यक्ष या परोक्ष से सम्बन्ध है। जिन व्यक्तियों को ये पत्र सम्बोधित हैं वे सभी सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं। जिन समस्याओं की ओर मैंने संकेत किया है वे किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित न होकर प्रत्येक सुधी-सहृदय पाठक को स्पर्श करती हैं। अतएव मैं आपसे आग्रह पूर्वक इन्हें पढ़ने का अनुरोध कर रहा हूँ। दरअसल, इस खंड के प्राय: सभी पत्र अंग्रेजी शब्दावली में 'ओपन लैटर्स' की कोटि के हैं। इनमें से अधिसंख्य धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नवनीत, गांधी-मार्ग आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

दूसरे खंड के पत्र नितान्त वैयक्तिक हैं; अपने

मित्रों, बंधु-बांधवों एवं परिवार के सदस्यों को सम्बो-
धित हैं मेरे अपने सुख-दुःख, भाव-विचार, आवेग-
संवेग और मन की तरंगों से उद्वेलित। किन्तु व्यक्ति-मन
का हर्ष-विषाद भी कभी-कभी अपने मर्यादित परिवेश
से बाहर फैलकर समष्टि-मन तक व्याप्त होता है और
सहृदय सामाजिक के संवेदना का विषय बन जाता है। मैं इसे
पत्र के कथ्य की प्रतिव्याप्ति नहीं वरन् चिन्तन-मनन का
सहज संक्रमण मानता हूँ और इसी दलील के आधार पर
आपको इन पत्रों का पाठक बनाना चाहता हूँ। मुझे विश्वास
है कि मेरी संवेदनशीलता का प्रसार आपको असह्य
प्रतिकार न लगेगा और आप इन नितान्त व्यक्तिगत पत्रों
को बिना किसी बाहरी दबाव के स्वेच्छा से पढ़ सकेंगे।
हाँ, जब ये पत्र लिखे गये थे तब स्वप्न में भी मैंने यह
नहीं सोचा था कि ये कभी मुद्रण यंत्र का मुख देखेंगे;
और दो व्यक्तियों के अलावा किसी तीसरे के लिए पठनीय
बनेंगे। वस्तुतः इन्हें छापेखाने तक पहुँचाने का दायित्व
मुझसे अधिक मेरे वे मित्र हैं जिन्हें ये सम्बोधित हैं।

मेरे मित्र डा० उपाध्याय जी तो मानते हैं कि यह
युग कहानी और उपन्यास का न होकर आत्मकथा, संस्मरण
और पत्र-साहित्य का है। वे चाहते हैं कि मैं आत्मकथा
लिखूँ। मैं उन्हें समझाता हूँ कि भाई, आत्मकथा तो
महापुरुषों-महाजनों की होती हैं; मेरे जैसे अदना-जन
की क्या आत्मकथा और कैसा संस्मरण! लेकिन उनकी
समझ में मेरी मोटी बात नहीं आती और प्रौढ़ पंडित
होकर भी वे बालहठ पकड़े रहते हैं। जब वे नहीं मानते
तब मैं पत्र के माध्यम से कुछ उल्टा-सीधा लिखकर उन्हें
बहला-फुसला देता हूँ।

एक बात मैं आपसे और कहना चाहता हूँ। दोस्तो,
आजकल पुस्तकें छपती तो बहुत हैं परन्तु दूसरों की
पुस्तकें पढ़ने का चलन कम होता जा रहा है। आपको

मेरी पुस्तक पढ़ी ?" यदि कोई आपके मित्र को आनन्द परिचित पुस्तकों के बजाय आप कहेंगे वह आपको हर्ष से पुलकायमान नहीं करेगी। जाहिर है कि आपके मित्र ने आपकी पुस्तक के पन्ने नहीं पलटे हैं। लेकिन यदि आपके पास किसी मित्र का पत्र आया हो तो उसे बिना पढ़े रखे रहना आपके लिए कभी संभव न होगा। अच्छा-बुरा जैसा भी वह है, एक बार तो पुस्तक पठनीय बनता होता है। मेरे इन पत्रों को भी आप पुस्तक न मानकर पत्र ही समझें और कुशल-क्षेम का समाचार न होने पर भी पत्र की दृष्टि से ही पढ़ें। मैं आपसे कब कहता हूँ कि इनमें कोई गूढ़-गंभीर ज्ञान या तत्त्व दर्शन है; नहीं; ये तो एक आत्मीय जन की मन की तरंग से उद्वेलित मन बहलाव के शब्द हैं जो आपकी सहृदयता के कारण ही सम्प्रेषित हैं। यदि किसी भी संदर्भ में मेरे ये पत्र आपको प्रसन्न-प्रमुदित कर सकें, उत्साह-उमंग से भर सकें, चिन्तन-मनन के लिए प्रेरित कर सकें तो मैं इन्हें सार्थक समझूंगा। यदि ऐसी कोई वैचारिक भूमिका ये नहीं बनाते तो भी पत्र-विधा से एक साधारण जन के विचारों को व्यापक आयाम तो देते ही हैं।

मैं मानता हूँ कि अभिव्यक्ति की शैलियों में पत्र से अधिक आत्मीय और अन्तरंग कोई और शैली नहीं है। बिना किसी दुराव-छिपाव के, बिना किसी कृत्रिमता या शब्दाडम्बर के दो दूरस्थ व्यक्तियों को जिस संवाद-सेतु से जोड़ता है, वैसा सहज संयोजन का माध्यम मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं है। पत्र से अधिक प्रिय माध्यम कोई नहीं।

यह तो आप भी मानेंगे कि पत्र में अभिव्यंजना के सौष्ठव की पत्र-लेखक चिन्ता नहीं करता। आरोपित अलंकरण भी उसका अभीष्ट नहीं होता, गूढ़-गंभीर रहस्य भरी भाषा का प्रदर्शन तो पत्र में सर्वथा निषिद्ध है। किन्तु पत्र में वह सब होता है जिसकी वजह से पत्र लिखा

और पढ़ जाता है। संवेदनीय बनते हैं। आत्मीयता, सहजता और स्वाभाविकता के तत्व ही पत्र को संवेदनीय बनाकर अविलम्ब पढ़ने योग्य बनाते हैं। कुशल-क्षेम की जिज्ञासा और घर-गृहस्थी के साथ-साथ वृत्तान्त वाला पत्र भी कितना आकर्षक होता है यह बताने की आवश्यकता नहीं।

मेरे इन पत्रों में आपको भाषा का विलास (लाघव, कसाव, सौष्ठव या लालित्य नहीं मिलेगा। हाँ, सहज-स्फूर्त संलाप-संवाद के साथ प्रवाह और प्रसाद इनमें है। अभिव्यक्ति की उत्कट आकांक्षा ने इन पत्रों में ललक अवश्य पैदा की है और मुझे विश्वास है कि वही ललक आपको इन्हें पढ़ने में सहायक होगी। यों तो डाक में प्राप्त प्रत्येक बन्द पत्र-लिफाफे में; पाने वाले के लिए ललक छिपी होती है, बशर्ते कि वह औपचारिक दफ्तरी पत्र या नोटिस न हो। मेरे इन पत्रों में कहीं कोई भी औपचारिकता नहीं है। दफ्तरी लिखावट का तो सवाल ही नहीं उठता।

पत्रों के संदर्भ में मैंने पत्राख्यान दे दिये हैं। उनके आलोक में पत्रों की पृष्ठभूमि या मूलकथ्य को आप सहज ही पकड़ सकेंगे। आपकी प्रतिक्रिया जानने की मैं उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करूँगा। पत्रोत्तर की प्रतीक्षा का अपना अधिकार मैंने स्वयं ही मान लिया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहीं लिखा है कि — आए हुए पत्र को पढ़कर उसका उत्तर न देना ऐसा ही अशिष्ट व्यवहार है जैसे

किसी व्यक्ति को भोजन के लिए निमंत्रण देकर घर बुलाना और उसके आ जाने पर भोजन की थाली न परोसना।" शायद आपको यह बात कुछ अटपटी या कड़वी लगे, किन्तु यह मेरी मान्यता नहीं, यह तो प्रवचन है, गुरुदेव का कथन है। मैंने तो सार्थवश उद्धृत कर दिया है। इसका आप बुरा न मानें।

आप विद्वान्, विवेकी और सहृदय व्यक्ति हैं। मुझे विश्वास है कि आप पत्रोत्तर से मुझे अवश्य कृतार्थ करेंगे और अविनय के लिए क्षमा करें। सस्नेह,

आपका,

विजयेन्द्र स्नातक

दिल्ली,
१५.६.८०

पत्रानुक्रम

प्रथम खण्ड

(साहित्यिक पत्र)

समीक्षा का निम्नस्तर—रचनात्मक साहित्य का स्वर तथा हिन्दी पत्रकारिता

संदर्भ

'धर्मयुग' के सम्पादक डा० धर्मवीर भारती के नाम यह 'खुला पत्र' सन् १९६४ में तत्कालीन साहित्य-समीक्षा के निम्नस्तर को लक्ष्य कर लिखा गया था। 'धर्मयुग' में यह प्रकाशित हुआ और अनेक पाठकों की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। सन् १९७६ में 'पुनश्च' द्वारा साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाओं के विषय में मैंने डा० भारती का ध्यान आकृष्ट किया। कई पत्रिकाओं में इसके सम्बन्ध में पाठकों ने अपने विचार व्यक्त किये और मेरी टिप्पणी का जोरदार समर्थन किया। पत्र का उद्देश्य साहित्य-समीक्षा के मानदंड, साहित्य-सृजन की मनोभूमि तथा पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य की उपेक्षा की ओर सम्पादक तथा पाठक का ध्यानाकर्षण ही है। किसी की न तो निन्दा-स्तुति की गई है और न किसी पर आरोप-आक्षेप ही है।

स्नातक-सदन
ए-५/३, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-७
२२-३-६४

प्रिय श्री भारती जी,

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हिन्दी की साहित्यिक रचनाओं के वार्षिक मूल्यांकन को पढ़कर बड़ी खिन्न मनःस्थिति में यह पत्र आपको लिख रहा हूं। जो मूल्यांकन वर्ष-भर की उपलब्धियों का प्रस्तुत किया जाता है वह राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुरूप तो होता ही नहीं, प्रत्युत राष्ट्रभाषा हिन्दी के असामर्थ्य एवं बौद्धिक दारिद्रय का द्योतक होता है। अहिन्दी-भाषी जब हमारे मूल्यांकन को पढ़ते हैं तब व्यंग्य की मीठी हँसी हँसकर रह जाते हैं। मैं ऐसा नहीं मानता कि इस समय हिन्दी में कृती साहित्यकारों का अभाव है—और यह भी मानने को तैयार नहीं कि हिन्दी की आज की प्रतिभा नगण्य है। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी में विगत डेढ़ दशक में जो कार्य हुआ है वह सभी विधाओं तथा क्षेत्रों में उल्लेख्य है और यदि उसका यथोचित मूल्यांकन किया जाय तो वह भारतवर्ष की किसी भी भाषा से अधिक सामर्थ्य-वान सिद्ध होगा। नवलेखन द्वारा जो क्रान्ति हिन्दी में हुई है उसका विधिवत् आकलन किया जाय तो वही हिन्दी के गौरव के लिए पर्याप्त है। किन्तु इस डेढ़ दशक में पुराने कवि, लेखक और आलोचक भी कम सक्रिय नहीं रहे। फलतः इस डेढ़ दशक के साहित्य को पूरी तरह समेटा जाय तो पच्चीस हज़ार पुस्तकों में से पचास श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएं पा लेना कठिन नहीं होगा। किन्तु मैं पूछना चाहता हूं कि क्या पचास श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों को हमारे मूल्यांकन ने गौरव-ग्रंथ के 'क्लासिक स्तर' पर प्रतिष्ठित किया है? अपने ही मूल्यांकन के निकष पर हमने पचास तो क्या, पांच साहित्यिक कृतियों को सार्वभौम रूप से वरेण्य समझा है ?

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य की गतिविधि पर जब मैं विचार करता हूं तो मुझे स्रष्ट साहित्य से नहीं वरन् उससे कहीं अधिक निराशा मूल्यांकन के निकृष्ट प्रतिमानों को देखकर होती है। साहित्यिक मूल्यांकन के प्रतिमान यदि हिन्दी-जगत् में आज भी अनिर्णीत हैं और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय चलता है तो मैं क्या कहूं ! लेकिन न्याय-तुला धारण करने वाले कालदेवता का हाथ कभी अन्याय की ओर नहीं झुकता। उसके अविनाशी निकष पर नश्वर की लकीर नहीं बनती। कालदेवता हमारे क्षयी एवं एकांगी प्रतिमानों से न तो कभी प्रभावित हुआ और न उसने कभी श्रेष्ठ तथा वरेण्य के चयन में प्रमाद

किया। पर क्या हम श्रेष्ठ साहित्य-चयन के लिए कालदेवता के निर्णय की प्रतीक्षा करते रहेंगे ? क्या हम अपने दीर्घकालीन अनुभव, ज्ञान, मनन और विवेचन को किनारे कर, संपेरों की बीन के बहकावे में पड़े रहना पसन्द करेंगे ? सतत विकसनशील प्रक्रिया में रहते हुए भी साहित्यिक मूल्यांकन के कुछ निर्धारित एवं शास्त्र-सम्मत शब्द-स्वर हमारे पास हैं, किन्तु आपाधापी के इस कोलाहलपूर्ण वातावरण में आज हम उन्हें सुन नहीं पाते या जानबूझकर सुनना नहीं चाहते। यही कारण है कि राजनीति की भांति साहित्य-क्षेत्र में भी 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' की कसौटी काम दे रही है। मूल्य निरूपित करते समय रचना से अधिक रचनाकार को सामने रखा जाता है, उसके प्रदेश, जाति, दल और संगठन का ध्यान रहता है। नये और पुराने का श्रेणिभेद मूल्य स्थिर करता है। इसके अतिरिक्त मूल्यांकन करने वाले स्वयम्भू समीक्षक का व्यक्तिगत राग-द्वेष, निहित स्वार्थ और रुचि-वैचित्र्य भी मूल्यांकन के मानक बनाता है। फलतः कृति एवं कृतित्व की अर्हता-निर्धारण के बिना ही उसे उत्कृष्ट या निकृष्ट घोषित कर दिया जाता है।

मुझे लिखते हुए पीड़ा होती है कि केवल प्रान्तीयता के आधार पर किसी कृति का अवमूल्यन करने वाले आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार का जन्म दैवयोग से यदि पंजाब में हुआ तो वह बिहार के समीक्षक की कसौटी पर निकृष्ट उतरे, यह कम ग्लानि और लज्जा की बात नहीं है। भौगोलिक चेतना अथवा संकुचित प्रान्तीयता को साहित्यिक मूल्यांकन के साथ जोड़ने की यह प्रक्रिया इधर कुछ समय से अधिक ज़ोर पकड़ रही है। जाति, देश और काल की सीमाओं में बंधे रहकर यदि हम साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे तो साहित्य के मूल उद्देश्य तथा सामयिक आवश्यकता—रागात्मक एकता—से ही दूर जा पड़ेंगे। मैं इस ओर हिन्दी के समीक्षकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहता हूं। वे देखें कि इस प्रकार के संकीर्ण, श्रेणीबद्ध और एकांगी मूल्यांकन को उनकी समीक्षा में तो प्रश्रय प्राप्त नहीं हो रहा है !

इन दूषित एवं एकांगी प्रतिमानों के आधार पर जो मूल्यांकन प्रस्तुत किये जा रहे हैं उनका पक्षपाती स्वर इतना स्पष्ट होता है कि पढ़ते ही पाठक जान जाता है कि यह मूल्यांकन पटना का है या प्रयाग का, दिल्ली का है या बम्बई का, हैदराबाद का है या वाराणसी का। इस प्रकार की निरंकुश पद्धति ने कृतियों के मूल्य-निर्धारण में अराजकता तो उत्पन्न की ही है, साथ ही पांच छोटी कविता और चार बड़ी कहानी लिखने वालों को भी हिन्दी के 'नवरत्नों' में ला बिठाया है। मानदण्डों का ऐसा भयंकर स्वेच्छाचार हिन्दी में पहले कभी देखने में नहीं आया। पुस्तक-परिचय लिखने वाले पहले कभी आलोचक नहीं

बन सके, किन्तु आज सख्य-भाव से मित्रों की कृतियों पर मर्मभेदी टिप्पणी लिखने वाले 'नामधारी समीक्षक' समझे जाते हैं। उनके पास आलोचक का एक ही धर्म है, 'कनिष्ठ मित्रों का स्तवन और वरिष्ठ कृतिकारों का अव-मूल्यन।'

दो दशक पूर्व साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक तथा सुधी समालोचक मूल्यांकन के क्षेत्र में अंकुश रखते थे। साधारण पाठक उनके संकेतों से दिशा पाकर रचना के सम्बन्ध में अपना तटस्थ मत बना पाते थे। उदाहरण के लिए, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आलोचक रामचन्द्र शुक्ल की मूल्यांकन-पद्धति को प्रस्तुत किया जा सकता है। मैं यह नहीं कहता कि इन दोनों की मूल्यांकन-दृष्टि निर्दोष थी किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में मेरे कहने का प्रयोजन यह है कि इनके प्रयत्नों से सार-ग्रहण को प्रोत्साहन मिला और श्रेष्ठ रचनाओं को सम्मान प्राप्त हुआ था। आज हिन्दी में एक भी ऐसा आलोचक नहीं है जिसके मन्तव्य को सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त हो और 'द्विवेदीयुगीन सरस्वती' के सदृश क्षमतावाली एक भी साहित्यिक पत्रिका नहीं है जिसकी सम्मति का आदर होता हो। मेरी यह इच्छा कदापि नहीं है कि प्रजातन्त्र एवं विचार-स्वातन्त्र्य के इस युग में हम किसी को साहित्य-जगत् का शासक या नियन्ता मानने लगें या किसी का अंकुश अपने ऊपर बिठा लें। मेरा तो इतना ही आग्रह है कि आलोचक के कर्तव्य-कर्म का जो पूर्णता के साथ पालन करे उसके मन्तव्य को ही स्वीकृति मिलनी चाहिए। साहित्य के मर्मोद्घाटन में जिस प्रकार आलोचक सहायक होता है, वैसे ही उसे रचनाओं के मूल्यांकन में भी सही तौर पर सहायक होना चाहिए। सजग प्रहरी के बिना जिस प्रकार दस्यु-दानवों का आतंक छा जाता है वैसे ही मूल्यांकन के मानकों के अभाव में साहित्यजगत् में अराजकता छा जाती है। आज हिन्दी में यह अराजकता सर्वत्र देखी जा सकती है। परिणाम यह है कि इन पन्द्रह वर्षों की श्रेष्ठ कृतियां या तो अनधिकारियों के हाथों में शल्यक्रिया की पीड़ा से कराह रही हैं या निकृष्ट रचनाएं रंग-बिरंगे जैकेटों में मि त्रों के साधुवाद से 'बच्चा-सक्का' की क्षणभंगुर बादशाहत का सुख भोग रही हैं। चूंकि दोनों ही स्थितियां अस्वाभाविक हैं, अतः क्षणजीवी भी हैं, किन्तु क्षणिक भ्रम को भी हम जान-बूझकर क्यों सहन करें? मेरा अनुरोध है कि सम्पादक का दायित्व वहन करने वाले निर्भीक साहित्यकार इस भ्रामक स्थिति से पाठकों को बचाने में योग देकर अपने कर्तव्य का पालन करें।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए यदि मैं विगत डेढ़ दशक के साहित्यिक मूल्यांकन से कुछ निदर्शन प्रस्तुत करूं तो आशा है आप इस नीरस प्रकरण को धैर्यपूर्वक पढ़ने का कष्ट स्वीकार करेंगे। उपन्यास के क्षेत्र में जिन कृतियों को

हमने सन् १९४५ तक श्रेष्ठ करार दे दिया था उसके आगे सार्वभौम रूप से किसी को स्वीकृति नहीं मिली। मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि इन बीस वर्षों में कम-से-कम एक दर्जन श्रेष्ठ उपन्यास हिन्दी में लिखे गए हैं और दो दर्जन उपन्यास-लेखक सक्रिय होकर रचनाएं प्रस्तुत करते रहे हैं। साढ़े तीन सौ उपन्यासों में से एक दर्जन का चयन कठिन नहीं। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर मूल्यांकन में 'मैला आंचल' और 'नदी के द्वीप' के बाद व्यापक स्वीकृति किसी को नहीं मिली। सतही मूल्यांकनों में सुन्दर कृतियों का केवल लेखा-जोखा करके छोड़ दिया गया। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य को प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र, जोशी, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और अज्ञेय जहां तक लाये, आज वह उससे कहीं आगे जा चुका है। लेकिन हमारे मूल्यांकन के निकष पर कोई चमकीला निशान बनता ही नहीं, जैसे सब गहने पीतल के ही हों, चौदह कैरट सोना भी किसी में नहीं है। क्या यही सही समीक्षा है?

कविता के क्षेत्र में तो अवमूल्यन और अधिक उग्र एवं प्रखर दिखाई देता है। 'नयी कविता' के कुछ कवियों की चर्चा अवश्य होती रहती है किन्तु उनका भी समग्र मूल्यांकन अभी तक नहीं हुआ है। वरिष्ठ आलोचक 'नयी कविता' के प्रति सहृदय-भाव नहीं रखते अतः उनसे न्याय की आशा कैसे हो सकती है, फलतः नवोदित कवि-आलोचकों को स्वयं ही मूल्यांकन का दायित्व वहन करना पड़ता है या मित्रों की सहायता से साधुवाद की शैली में लिखवाना पड़ता है। स्थिति दोनों तरह अशोभन ही रहती है। पुराने खेवे के कवियों को तो इस मूल्यांकन में प्रायः छोड़ ही दिया गया है। चार-चार दशक के प्रसिद्ध कवि आज कसौटी पर खोटे सिद्ध हो रहे हैं। काव्यशास्त्र की कौन-सी नई कसौटी है जिसके प्रतिमान न तो रचनाकार को ज्ञात हैं और न पाठकों को? केवल गुप्तमुद्रा से अंकित होने पर ही किसी विशिष्ट को दलीय मान्यता मिलती है। सार्वभौम न होने से उस मान्यता का भी कोई मूल्य नहीं है। जैसी सार्वभौम मान्यता रामचरितमानस, सूरसागर, बिहारी-सतसई, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी और कुरुक्षेत्र को मिली वैसी क्या आज बीस वर्षों की किसी काव्यकृति को मिल सकी है? क्या आप यह मानने को तैयार हैं कि 'कुरुक्षेत्र' के बाद हिन्दी-काव्य की ऐसी कोई उपलब्धि नहीं है जिसे हम सार्वभौम स्वीकृति दे सकें? मेरा मत है कि इन बीस वर्षों में अनेक सुन्दर काव्यकृतियां हिन्दी में आई हैं किन्तु मूल्यांकन की निर्दोष कसौटी के अभाव में उनको उचित सम्मान नहीं मिला। दिनकर, बच्चन, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, शमशेर, केदार, सर्वेश्वरदयाल, नरेश मेहता, नागार्जुन, भवानीप्रसाद मिश्र, के० ना० मिश्र प्रभात, रघुवीर सहाय, आदि की अनेक काव्य-कृतियों को हम हिन्दी के गौरव-ग्रंथों में रख सकते हैं किन्तु यह तभी

सम्भव होगा जब हम उनका तलस्पर्शी मूल्यांकन करने की चेष्टा करेंगे। बड़ी विचित्र बात देखने में यह आ रही है कि सिद्ध-प्रसिद्ध कवियों को भी आज मूल्य निर्धारण की अराजकता के कारण अपनी उत्कृष्ट रचनाओं को स्थापित करने के लिए बाह्य प्रयत्न करने पड़ रहे हैं। धूमधामी समारोहों के साथ समीक्षा-संकलन के अभियान करने पड़ते हैं। यह कैसी दयनीय स्थिति है कि कवि और कलाकार को आज प्रकाशकीय उत्सवों के माध्यम से साहित्य-जगत् में पहचाना जा रहा है !

कहानी के क्षेत्र में स्थिति कुछ सन्तोषजनक है। कहानी का मूल्यांकन हुआ कहानी-पत्रिकाओं और गोष्ठियों द्वारा, जिसमें दलबन्दी तो पनपी, किन्तु प्रतिभा को दबाया नहीं जा सका। हां, पांच प्रतिशत प्रतिभावाले अवश्य पचास प्रतिशत वालों में बिठा दिये गये। कहानी में अवमूल्यन कम और अधिमूल्यन अधिक हुआ है, अतः मूल्यांकन की सही दिशा तो कहानी के क्षेत्र में भी नहीं है किन्तु प्रतिभा को पनपने का यथोचित अवकाश अवश्य मिलता रहा है। नई कहानी के पीछे कुछ नये समर्थ आलोचक रहे हैं जिनके प्रयत्नों से कहानी को उचित गौरव प्राप्त हुआ।

समालोचना का क्षेत्र तो बहुत ही दुर्दशाग्रस्त है। मूल्यांकन का काम समालोचक ही करता है अतः साहित्य के मानक-निर्धारण में और उनके व्यावहारिक रूप से उपयोग करने में बड़ी सावधानी आवश्यक होती है। खेद है कि हिन्दी में आलोचक बनने के लिए जो पृष्ठद्वार और पगडंडियां आज खुल गई हैं उनसे समीक्षा का राजमार्ग सूना हो गया है। समीक्षा का मार्ग प्रशस्त राजमार्ग है जिस पर चलने में तटस्थता, निर्भीकता, सदाशयता और विद्वत्ता की आवश्यकता होती है। हिन्दी में सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस राजमार्ग को अपनाया था। उनके बाद जिन आलोचकों को व्यापक स्वीकृति मिली उनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू गुलाब राय और डा० नगेन्द्र की ही गिनती है। प्रगतिवादी समीक्षकों में डा० रामविलास शर्मा और श्री शिवदानसिंह चौहान भी समादृत हुए। इसके बाद आलोचना के क्षेत्र में भयंकर बाढ़-सी आती दिखाई दी। शालोपयोगी समीक्षा का द्वार खुलते ही पाठक से अधिक आलोचक दिखाई देने लगे। लेकिन सार्वभौम ख्याति पाने में कोई सफल नहीं हुआ। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समालोचना में विकास या प्रगति नहीं हुई। वस्तुतः समालोचना में आमूल परिवर्तन इस डेढ़ दशक में ही हुआ किन्तु मूल्यांकन के निकृष्ट मानदण्डों के कारण उसे स्वीकृति नहीं मिल सकी। नये आलोचकों में सूझ-बूझ और पकड़ की कमी नहीं है—उनके पास पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मानक भी हैं किन्तु पक्षधर पंडितों के आगे उनकी चल नहीं पाती। समीक्षा की परिणति मूल्यांकन में होती है

यह एक आंशिक सत्य है, किन्तु सदोष समीक्षा से निर्दोष मूल्यांकन सम्भव नहीं हो सकता, यह भी एक पूरक सत्य है।

यदि हिन्दी के शोध-कार्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह दूं तो अप्रासंगिक न होगा। शोध के नाम पर हिन्दी में प्रतिवर्ष लगभग पचास पोथे छपकर मार्केट में आते हैं। विषयों की आवृत्ति, पुनरावृत्ति, पुनः-पुनः आवृत्ति तो जैसे हिन्दी-शोध का गौरव समझा जाता है। शोध को उपाधि से संयुक्त करने का यही परिणाम सम्भव था अतः मैं इस पर कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता। मैं तो केवल उसके मूल्यांकन पर ही आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। हिन्दी-शोध पर टिप्पणी करते हुए अपनी एक कहानी में श्री निर्गुण ने लिखा है, "यहां की शोध तो रोज़ दीख रही है, पी-एच० डी० जैसे एक खिलौना हो गया है, चाहे जिनके हाथ में पकड़ा दिया झुनझुना कि बजाये जा बेटा।" शोध को झुनझुना मानकर बजानेवाले भी हिन्दी में हैं, विद्या-पीठों के महन्त भी और उनके गुरुभक्त चेले भी। पर शोध का समस्त कार्य खिलौना-मात्र नहीं है। यह शुद्ध अवमूल्यन का परिणाम है कि हिन्दी-शोध में से उपादेय को भी हम ग्रहण नहीं कर कर पा रहे हैं। हज़ार से अधिक विषयों पर हिन्दी में शोध-कार्य हुआ है, क्या उसमें दस प्रतिशत भी साधुवाद के योग्य नहीं हैं? यदि हैं तो कौन से वे सौ शोध-प्रबन्ध हैं जिनका सही मूल्यांकन हुआ है और जो हिन्दी-शोध के मानक ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हुए हैं?

मुझे तो लगता है कि हिन्दी में मूल्यांकन के प्रतिमान न तो शास्त्रशासित हैं और न व्यवहारानुमोदित। बड़े-बड़े कवि, लेखक और आलोचक अपने ग्रन्थों की प्रसिद्धि के लिए बाह्य विज्ञापन का आश्रय लेने लगे हैं। इस विज्ञापन में प्रकाशक को भी गौरव मिलता है अतः वह लेखक की रायल्टी से भी अधिक पैसा पुस्तक के विज्ञापन पर खर्च करने को उद्यत रहता है। यदि व्यावहारिक समीक्षा भी सन्तुलित रूप से पनपती तो इन बाह्य आयोजनों की ओर सच्चे कृतिकार का ध्यान हर्गिज़ न जाता। विवशता में उसे अपने ग्रन्थ को अनधि-कारियों द्वारा अवमूल्यन से बचाने के लिए समारोही विज्ञापन की शरण लेनी पड़ती है। लखनऊ, प्रयाग, पटना, पूर्णिया और वाराणसी से कवि-लेखक भारत की राजधानी में विज्ञप्ति के लिए खिंचे चले आते हैं। पहले पाठक ग्रन्थ-रत्न की खोज में रहते थे, आज ग्रन्थ-रत्न स्वयं पाठकों की खोज में बड़े बाज़ार में भटक रहे हैं। ग्रन्थ-रत्नों के स्वामी भूल गए हैं कि—'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।'

क्षमा करें, पत्र बहुत लम्बा हो गया लेकिन अपनी बात को स्पष्ट रूप से रखने के लिए यह विस्तार आवश्यक था। साहित्यकार-सम्पादक के नाते आपका यह विशिष्ट दायित्व है कि मूल्यांकन के प्रतिमानों के निर्धारण में योग

दें और अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन पर अंकुश रखते हुए हिन्दी के गौरव-ग्रन्थों को साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित करें ।

आपका,
विजयेन्द्र स्नातक

पुनश्च—

बारह वर्ष बाद आज पहले पत्र में पुनश्च जोड़ रहा हूं । इस पुनश्च में मैं साहित्य सृजन और हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति के विषय में आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं । चूंकि आप स्वयं साहित्य सर्जक और पत्रकार हैं अत: आपसे शिकवा-शिकायत करने में मुझे संकोच नहीं होता । मैंने यह बात अपने एक भाषण में साहित्यकारों के ध्यानाकर्षण के लिए कही थी, मालूम नहीं किसी ने इस पर ध्यान दिया या नहीं ।

जब मैंने पहला पत्र सन् १६६४ में आपको लिखा था उस समय नवलेखन की लहर बड़ी तेज़ी से बह रही थी और साहित्य-जगत् में यह आशा बंधने लगी थी कि पुरातनता का निर्मोक उतर रहा है और साहित्य नयी उमंग के साथ अंगड़ाई ले रहा है । नयी चेतना जन्म ले रही है। प्रजातान्त्रिक स्थितियों में व्यक्तिवादी रोमानी साहित्य की उपेक्षा और उसके स्थान पर समाज की इच्छा-आकांक्षाओं के स्वप्न को चरितार्थ करनेवाले साहित्य की वृद्धि के अच्छे आसार नज़र आने लगे थे । साहित्य का क्षेत्र मनोरंजन के दरबार से निकलकर कल-कारखानों, खदानों में काम करने वाले मज़दूरों, श्रमिकों, खेत-खलिहानों में पसीना बहाने वाले किसानों, चरखा-चक्की और चूल्हे में खपती-मरती गरीब स्त्रियों के वर्णन को भी स्थान मिलने लगा था । इस चित्रण में आधुनिकता-बोध पर अतिशय बल दिया जा रहा था लेकिन कुछ समय के भीतर ही पाठक यह समझ गया कि आधुनिकता और वैज्ञानिकता शब्द नारे मात्र हैं । इन शब्दों में मौलिकता कम और अनुकरण अधिक है । यदि इस साहित्य में जिजीविषा, मानवीय संवेदना और जीवन विकास की इच्छा-आकांक्षाओं, सम-सामयिक परिस्थितियों एवं मान्यताओं का चित्र उभरता तो शायद यह जन-मानस के अधिक समीप होता ।

मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि जो लेखक सामाजिक न्याय की मांग को लेखन की पहली शर्त मानते हैं और जो देश-काल-परिस्थिति को साहित्य में अंकित करने का दावा करते हैं वे राष्ट्रीय चेतना के महत्त्वपूर्ण दायित्व से अपने को अलग नहीं कर सकते । साहित्य-सृजन वस्तुत: एक अंतरंग प्रक्रिया है—इसके द्वारा साहित्यकार केवल आत्मतोष ही प्राप्त नहीं करता वरन् जन-मन का तोष और संस्कार भी करता है। साहित्य-सृजन के क्षणों में रचनाकार अतिशय उदार और गंभीर मानवीय गुणों से सम्पन्न होता है। साहित्य सदैव समाजोन्मुख

और सार्वजनीन होकर ही श्रेष्ठ बनता है। इस निकष पर जब मैं अपने विगत बीस-पच्चीस वर्ष के साहित्य की परीक्षा करता हूं तो मुझे सन्तोष नहीं होता। मुझे लगता है इस साहित्य में जातीय जीवन की विशिष्ट प्रेरणाएं एवं तलस्पर्शी भूमिकाएं स्थान नहीं पा सकी हैं। हमारा प्रयत्न यह अवश्य रहा है कि घर से बाहर दूर के आंगन में जो चाकचिक्य और चमक दिखाई दे रही है उसे अनुकरण के द्वारा अपने लेखन में स्थान दें। हमारी प्रवृत्ति न तो उसे सही परिप्रेक्ष्य में समझ कर आत्मसात् करने की रही है औन न हम अपने जातीय प्रभावों तथा संकल्पों से उस दूरागत चमक पर अनुशासन ही कर सके हैं। यही कारण है कि दो-चार को छोड़कर हमारे साहित्यकार अपनी स्लेट पर अपने देश के नये जीवन को गहराइयों के साथ नहीं लिख पा रहे हैं। कतिपय नये लेखक तो पश्चिम को ही आदर्श मानकर झूठे ही आधुनिक होने का दावा करते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि भारतीय साहित्यकार वास्तविक आधुनिकता-बोध पश्चिम से नहीं, भारत की अपनी संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन द्वारा ही स्वायत्त कर सकते हैं। अपने केन्द्र में स्थित रहकर और अपनी परिस्थितियों में स्वस्थ रूप से जी कर ही स्वानुभूति से राष्ट्रीय चेतना का सत्साहित्य लिखा जा सकता है। आज हमें ऐसे बौद्धिक विमर्श से पूर्ण जातीय जीवन की इच्छा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने वाले साहित्य की आवश्यकता है। आप चाहें तो अपने लेखन और उद्बोधन से नये रचनाकारों में यह प्रेरणा उत्पन्न कर सकते हैं। आपके पास लोकप्रिय साप्ताहिक पत्र का माध्यम है, उसका भी इस कार्य के लिए उपयोग किया जा सकता है।

यह हर्ष का विषय है कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की संख्या तथा पाठक संख्या में सन्तोषजनक वृद्धि हुई है। किन्तु पत्र-पत्रिकाओं के स्तर से विशेषतः साहित्यिक स्तर से मुझे सन्तोष नहीं है। साप्ताहिक तथा मासिक दोनों प्रकार की पत्रिकाएं मनोरंजन का उद्देश्य सामने रखकर अपना विकास कर रही हैं। हमारे यह लोकप्रिय साप्ताहिक साज-सज्जा और सस्ते मनोरंजन के कारण ड्राइंग रूम की शोभा तो बढ़ा रहे हैं किन्तु साहित्य और संस्कृति से इनका सम्बन्ध टूटता जा रहा है। साप्ताहिक पत्रों ने अपना क्षेत्र इतना विस्तृत कर लिया है कि वह साहित्य को छोड़कर अन्य सभी वर्ग के पाठकों को पठनीय सामग्री देने का प्रयास करते हैं। साहित्य-समीक्षा का पन्ना भी अब इनसे गायब हो गया है। कहानी और कविता तो अभी इनमें जगह पा रही हैं किन्तु इनके स्तर के विषय में बहुत आश्वस्त होकर प्रशंसनीय तौर पर कुछ कहना कठिन है।

साप्ताहिक पत्रों के विविध विषय जिनसे इनके पृष्ठ भरे होते हैं, पचास से ऊपर है कुछ विषय तो ऐसे हैं जिनका साहित्य और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं। कुछ दैनिक जीवन में उपयोगी मानकर ग्रहण किये जाते हैं जैसे—

रसोईघर, बागवानी, ड्राइंग रूम और बेडरूम की सजावट, स्वेटर और कार्डिगन की बुनाई, साग-सब्जी पकाने के तरीके, बाथरूम और फर्श साफ करने की प्रक्रिया, फोड़े-फुंसी और नीम के पत्ते, नीबू और जामुन के लाभ, अचार-मुरब्बे की विधि, खांसी-जुकाम का इलाज, कपड़ों से धब्बे हटाने के उपाय, टूटे शीशे को जोड़ने का तरीका, झांई-मुहासे दूर करने की दवा, योगासन के लाभ, जूडो-व्यायाम की विधि, भविष्य दर्शन, कार दौड़, वगैरह ।

इनके सिवा पांच-सात पृष्ठ फिलमी सितारों के लिए और दो-तीन पृष्ठ क्रिकेट के खिलाड़ियों के लिए आरक्षित रहते हैं । इस प्रकार इन साप्ताहिकों ने अपना नाता जिस वर्ग के पाठक से जोड़ा है वह साहित्येतर जगत् है । मैं उसकी उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाता किन्तु साहित्य से कटने पर क्षुब्ध हूं । अचार और मुरब्बे की विधि के साथ भाव और विचार के संस्कार का अपना दायित्व आप क्यों भूलते हैं !

मैं इस पत्र द्वारा आपसे अनुरोधपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि साहित्य, संस्कृति, चिन्तन, मनन और जीवन दर्शन की नितान्त उपेक्षा द्वारा सभ्यता का बाह्य आवरण भी तैयार नहीं हो सकता । जिस सभ्यता के निर्माण पर इनकी आंख टिकी है वह पाठक के भीतर सांस्कृतिक चेतना नहीं जगाती ।...[१]

आपका

२२-२-१९७६ विजयेन्द्र स्नातक

1. श्री धर्मवीर भारती के नाम पहला पत्र सन् १९६४ में लिखा था । उस समय नवलेखन की धूम थी । पुनश्च का अंश बारह वर्ष बाद लिखा जिसमें साहित्य की चर्चा है । यह सन् १९७६ में लिखा गया ।

पुस्तक संकलन और पुस्तक की नियति

संदर्भ

'नवनीत' सम्पादक श्री नारायणदत्त सन् १९७८ में मेरे घर पधारे थे। मेरे अध्ययन-कक्ष और पुस्तक-संकलन को देखकर उन्होंने हर्ष और विस्मय प्रकट किया था। मैंने उस समय तो उनसे अधिक कुछ नहीं कहा किन्तु लगभग दो वर्ष बाद पुस्तकों की नियति के सम्बन्ध में उन्हें एक विस्तृत पत्र लिखा जो 'नवनीत' जनवरी १९८० के अंक में प्रकाशित हुआ। पत्र का अविकल रूप यहां दिया जा रहा है। इसमें पुस्तकों की अन्तिम परिणति या नियति पर प्रकाश पड़ता है। जो उदाहरण दिये गये हैं वे केवल 'स्थालीपुलाकन्याय' जैसे ही हैं। वैसे मेरी जानकारी में पुस्तकों के दान और विक्रय की सैकड़ों करुण कहानियां हैं जिन्हें लिखकर मैं पाठकों को द्रवित करना नहीं चाहता।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
१६-११-७६

प्रिय भाई नारायणदत्त जी,

सप्रेम नमस्ते। गत वर्ष जब आप मेरे आवास पर पधारे थे तब मेरे अध्ययन-कक्ष और पुस्तक-संकलन को देखकर आपने विस्मयजन्य प्रसन्नता व्यक्त की थी। मुझे स्मरण है अपने पुस्तक-प्रेम और पुस्तक-संकलन के विषय में मैंने कुछ बातें आपको बताई थीं। और अन्त में यह बताया था कि पुस्तक के साथ मनुष्य का प्रेम और लगाव उत्तरोत्तर कम होता जाता है और कभी-कभी ऐसा भी समय आता है जब बड़े विद्वान् और ज्ञानी पुरुष भी पुस्तकें बेचकर या किसी संस्था को दान देकर उनसे अपना पिंड छुड़ा लेते हैं। पुस्तकें बेचना तो मुझे सन्तति-विक्रय जैसा लगता है। लेकिन दुर्भिक्ष के समय क्षुधा-ग्रस्त लोग सन्तति बेचते देखे गये हैं। वह विपन्नावस्था है; लाचारी है; विवशता है और 'आत्मानं सततं रक्षेत्' अथवा 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' जैसा भाव है। पुस्तकें बेचने वाले पंडितों के समक्ष यह विपदा नहीं आती। यहां तो विरक्ति—पुस्तकों से अनासक्ति—ही प्रमुख होती है।

विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करते समय मेरे सामने भी अपने पुस्तकालय के भविष्य की समस्या है। यदि मेरे घर में उनका सही उपयोग करने वाला कोई व्यक्ति होता तो यह समस्या मेरे लिए खड़ी न होती। मेरे दोनों पुत्रों का हिन्दी साहित्य से कोई सरोकार नहीं है। उनके व्यवसाय सर्वथा भिन्न हैं। एक पुत्री अवश्य साहित्य से अनुराग रखती है किन्तु उसके पास इस महानगर में पुस्तकों को रखने के लिए स्थान का अभाव है। ऐसी स्थिति में पुस्तकों का संरक्षण कैसे हो और इनका सही उपयोग कौन करे, यह विषम समस्या है।

अध्यापक और लेखक होने के नाते पुस्तक-प्रेम मेरे लिए स्वाभाविक है। अध्यापन मेरा पैतृक पेशा है। मेरे पिता भी अध्यापक थे। भक्ति और रीति-कालीन हिन्दी साहित्य की कुछ श्रेष्ठ पुस्तकें उनके पास संकलित थीं। शायद पुस्तक-संकलन का यह संस्कार मुझे उन्हीं से विरासत में मिला हो। सन् १९४७ में जब मैं दिल्ली आया तब दो बोरा पुस्तकें साथ लाया था। उन दिनों दिल्ली एक साधारण शहर था, मकानों का अभाव था, भारत विभाजन की लहर फैल रही थी। किराये पर मकान मिलना कठिन था। दो कमरे का छोटा सा मकान मिला तो उसमें पुस्तकों को सलीके से रखने को ठौर कहां!

जैसे-तैसे उन पुस्तकों को साथ-साथ ढोता हुआ मैं क्रमशः किराये के पांच मकानों में रहा। पुस्तक जो मुझे अत्यन्त प्रिय थीं और मेरे मन की अतल गहराइयों में बसी थीं, किराये के उन मकानों में प्रायः उपेक्षित ही पड़ी रहीं। जैसा गंभीर ज्ञान और जीवनानुभव उनमें निहित था यदि वैसी ही मुखर वाणी की वाग्मिता उनमें होती तो निश्चय ही वे पुस्तकें आक्रोश के स्वर में मुझे फटकारतीं, कोसतीं और खुली हवा में सांस लेने का अधिकार मांगतीं। उनकी ज्ञान-जड़ता को उन दिनों मैंने अपने लिए वरदान ही माना। लेकिन उनकी कष्ट-कथा से भीतर ही भीतर मैं व्यथित अवश्य बना रहा।

इस व्यथा के साथ जब कभी मैं बाजार जाता तो आते-जाते बाटा-कम्पनी की जूतों की दुकान में सजे-धजे जूतों को देखकर लगता कि पदत्राण को इन आलीशान शो-केस में जो सम्मान मिल रहा है वह मानव-जाति के मन और मस्तिष्क को समृद्ध बनाने वाली पुस्तकों को क्यों नहीं मिलता! हमारे घर में, बाज़ार में पुस्तकों की ऐसी सुव्यवस्था क्यों नहीं होती? सच पूछिये तो बाटा की दुकान से ही मैंने यह प्रेरणा ली थी कि पुस्तकों को रखने की ऐसी ही शानदार अलमारियों की व्यवस्था अपने घर में करूंगा। मकान बनाते समय घर के सबसे बड़े कमरे को मैंने पुस्तकों को समर्पित कर बड़े हर्ष और सन्तोष का अनुभव किया। इसी कमरे में बैठकर मैंने पुस्तकों के सम्बन्ध में आप से चर्चा की थी।

आज इसी कमरे में बैठकर मैं अपने पुस्तक-संकलन पर दृष्टिपात करता हूं तो बड़े असमंजस की स्थिति का अनुभव करने लगता हूं। मैं समझ नहीं पाता कि इनका भविष्य क्या होगा, इनकी गति क्या होगी। मैंने चालीस वर्ष तक यथाशक्ति (क्रेतव्य शक्ति) पुस्तकों का संग्रह किया। एक समय वह भी था जब मैं लाइब्रेरी से पुस्तकें लाकर पढ़ता था। धीरे-धीरे खरीदकर पुस्तक स्वायत्त करने का चाव बढ़ा और पांच-पांच सौ रुपये की पुस्तकें एक साथ क्रय करके इकट्ठी कीं। अभी एक वर्ष पहले दिल्ली के बुक-फेयर से चार सौ रुपये की तीस-चालीस पठनीय पुस्तकें खरीदीं। मुश्किल से चार-पांच के पन्ने पलट पाया हूं, शेष सब ढेर में दबी पड़ी हैं। सिसक रही हैं, कुंठित होकर मुझे कोस रही हैं। पुस्तकें मुझे उपयोगी प्रतीत हुईं तभी मैंने उन पर खर्च किया लेकिन अठारह-बीस महीनों में ही मेरे लिए वे भार बन गईं। अब मुझे उनकी सार्थकता से कोई वास्ता नहीं है; केवल उनके भार का वेत्ता हूं। चन्दन की सुगन्ध समाप्त हुई।

जब मैं पुस्तकों की इस दयनीय स्थिति पर गौर करता हूं तो अपने बुद्धि-विवेक पर तरस आता है। सहस्राब्दियों से मनीषी, ज्ञानी, पंडितों के बौद्धिक ज्ञान और अनुभव को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाने वाली पुस्तकें कितनी

जल्दी हमारे घरों में उपेक्षा का पात्र बनती हैं इसके दो-चार उदाहरण मैं आपकी मनस्तुष्टि के लिए प्रस्तुत करता हूं। जिन पुस्तकों को कभी इन महानु-भावों ने अपने जीवन का सबसे प्रिय सखा-साथी मानकर घर में रखा था; जिन्हें ये विद्वान् व्यक्ति ज्ञान और अनुभव का कोश कहते थे, उन्हें कबाड़ी के हाथ कौड़ियों के भाव बेचकर इनसे अपना पिंड छुड़ा कर ही सुखी हो सके।

हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध कवि-साहित्यकार के पास पुस्तकों का अच्छा खासा संग्रह था। कुछ पुस्तकें उन्होंने अपने पढ़ने के शौक से खरीदी थीं; कुछ मित्रों ने उन्हें भेंट स्वरूप समर्पित की थीं। जब ये महाशय दिल्ली छोड़कर जाने लगे तो उन्हें घर के तमाम सामान में पुस्तकें ही फालतू नज़र आईं। घर का सारा तामझाम उन्होंने सम्भाल लिया और पुस्तक-संग्रह कबाड़ी के हाथ कौड़ी के भाव बेच दिया। कबाड़ी वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, शेक्सपीयर, मिल्टन, बायरन, यीट्स से लेकर सूर, कबीर, तुलसी, मीरा, अज्ञेय, हरिऔध, गुप्त, दिनकर, बच्चन और मुक्तिबोध तक सबकी रचनाओं और समीक्षाओं को बोरे में भरकर ले गया। जामा मस्जिद के कबाड़ी बाज़ार में एक दूसरे पुस्तक-प्रेमी साहित्यकार सस्ते दाम पर पुरानी पुस्तकें खरीदने पहुंचे तो क्या देखते हैं कि उनका अपना काव्य-संकलन भी उस कबाड़ी के ढेर में पड़ा सिसक रहा है। कवि महाशय स्नेह-सम्मान से भेंट की गई पुस्तकें भी कबाड़ी को बेच गये थे। बेचारा नवोदित कवि अपनी दयनीय स्थिति को समझकर प्रवासी कवि-साहित्यकार को मन ही मन कोसता हुआ कबाड़ी से अपना काव्य-संकलन खरीद लाया। कबाड़ी के लिए सब धान चालीस पसेरी थे। स्रष्टा और क्रेता का भेद उसके यहां नहीं होता। वह तराजू-बाट से कविता-कहानी, नाटक, उपन्यास, मापता-तौलता है। पुस्तकों की इस दुर्गति की बात शहर में फैली थी और साहित्यकारों ने नाक-भौं सिकोड़ कर बेचने वाले पर व्यंग्य-बाण फेंके थे। किन्तु इस व्यवहार से पुस्तक की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। वह तो कबाड़ी के यहां कबाड़ के ढेर में पड़ी थी।

पुस्तकें भेंट करना लेखकों के लिए अनिवार्य न होने पर भी प्रचलन के कारण अनिवार्य-सा हो गया है। सर्जक कवि-लेखक चाहते हैं कि उनके मित्र उनकी रचनाओं से परिचित रहें, उन्हें पढ़ें, प्रशंसा करें, प्रतिभा की दाद दें। किन्तु यह आकांक्षा सदा पूरी नहीं होती। बड़े-बड़े साहित्यकारों की रचनाएं भी ज्यों की त्यों अछूती रहकर कबाड़ी बाज़ार में पहुंच जाती हैं। बर्नार्ड शा ने अपनी एक सुप्रसिद्ध रचना अपने एक धनी मित्र को 'प्रज़ेन्टेड टू मि०··· विद लव' लिखकर सस्नेह भेंट की। धनी मित्र को पुस्तक की परख न थी। उन्होंने कबाड़ी के हाथ उसे बेच दिया। एक दिन बर्नार्ड शा कबाड़ी बाज़ार में पुस्तक खरीदने गये तो अपनी भेंट की हुई पुस्तक को कबाड़ी के ढेर में

सिसकते देखा। उन्होंने कबाड़ी से पुस्तक खरीद ली और उस पर 'अगेन विद लव टू मि०…' लिखकर पुनः उसी धनी मित्र को भेंट स्वरूप दे आए। बिचारी निरीह पुस्तक चार व्यक्तियों के हाथ में आती जाती रही किन्तु उसकी नियति में भाग्य का व्यंग्य ही बदा था। बर्नार्ड शा को क्या पता कि वही पुस्तक फिर उसी कबाड़ी के पास न पहुंची होगी।

एक दूसरे पुस्तक-प्रेमी के पुस्तक भंडार की कहानी मेरे सुनने में आई। सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक सर हरिसिंह गौड़ अपने समय के अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर थे। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देशों में वकालत द्वारा उन्होंने विपुल धन-सम्मान अर्जित किया था। कानून की पुस्तकें संग्रह करने का उन्हें बेहद शौक था। उनके निजी पुस्तकालय में देश-विदेश की कानूनी पुस्तकें और ला-जनरल संकलित थे। वकालत का काम छोड़ देने पर कानूनी पुस्तकों का वह दुर्लभ पुस्तक भंडार स्वयं उन्हें भार प्रतीत होने लगा किन्तु वे स्वयं उसकी देखभाल नहीं कर सके। कुछ अमूल्य पुस्तकें दिल्ली और बम्बई के कबाड़ी बाज़ार में पहुंच गयीं। कैसे पहुंचीं यह तो मैं नहीं जानता किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि पुस्तकों के स्वामी की उपेक्षा और अनासक्ति से पुस्तकों की यह दुर्गति हुई होगी। सर हरिसिंह गौड़ दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति थे। सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक थे। यदि वे चाहते तो अपनी पुस्तकें इन विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को दे सकते थे। उन्होंने अपनी सम्पत्ति की तो उचित व्यवस्था कर दी किन्तु पुस्तकों को उनके भाग्य पर निराश्रित छोड़ दिया। अनाथ होना ही क्या पुस्तक की नियति है?

सर आशुतोष मुकर्जी ब्रिटिश शासन काल में भारत के मेधावी, स्वाभिमानी एवं विद्याव्यसनी विख्यात बैरिस्टर थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय उपकुलपति बनने का उन्हें गौरव मिला था। अंग्रेज़ों से न डरने वाले और अपना मत निर्भीक भाव से व्यक्त करने वाले भारतीयों में उनका ऊंचा स्थान था। विद्याव्यसनी होने के कारण कानून के साथ ज्ञान-विज्ञान और साहित्य की पुस्तकें संकलित करने का उन्हें शौक था। उनके पुत्र श्यामा-प्रसाद मुकर्जी ने पुस्तकों का वह विशाल भंडार कलकत्ता विश्वविद्यालय को दान देकर पुण्य अर्जित किया। पुस्तकें चल या अचल सम्पत्ति में कहीं भी स्थान नहीं पा सकीं! घर में तो उनके लिए जगह रही नहीं थी।

हिन्दी के द्विवेदी युगीन साहित्य-प्रेमियों में श्री मायाशंकर याज्ञिक को पुस्तक-संग्रह का बड़ा शौक था। उन्होंने अपना पुस्तकालय नागरी प्रचारिणी सभा को सौंप दिया। आज उनकी पुस्तकें सभा के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। स्वामी सत्यदेव तो अपने को स्वयं पुस्तक-कीट कहते थे। अमेरिका गये

तो वापसी में पुस्तकों का बोझ लाद लाये। भाड़ा अदा करते समय जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा वह उनके यात्रा-वृत्तान्त में पठनीय है। बोझ कम करने को पुस्तकें समुद्र में नहीं फेंकीं, बिस्तर और अन्य फालतू चीजें कम कीं। पढ़ते-पढ़ते नेत्रों की ज्योति से वंचित हो गये। पुस्तकें फिर भी साथ ढोते रहे। दूसरों से पढ़वा कर सुनने की प्रक्रिया कुछ दिन चली किन्तु अन्त में पूर्ण अंधत्व की स्थिति में नागरी प्रचारिणी सभा को अपनी पुस्तकें दान देकर पुस्तक-प्रेम को पूर्णाहूति दी। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक गाड़ी भरकर अपनी पुस्तकें नागरी प्रचारिणी सभा को देकर उनकी सद्‌गति का प्रबन्ध किया था। लेकिन सभा के पुस्तकालय में भी वे पुस्तकें उपेक्षित भाव से रखी हैं। हां, शरणस्थल उन्हें अवश्य मिल गया है। सार-सम्भाल की बात पुस्तकों की नियति पर निर्भर है।

मेरे एक अध्यापक पंडित शंकरदेव पाठक संस्कृत व्याकरण और साहित्य के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक पुस्तकें लिखीं। स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित 'सत्यार्थप्रकाश' का संस्कृतानुवाद उन्हीं का है। संस्कृत के अनेक दुर्लभ एवं श्रेष्ठ ग्रंथ उन्होंने जहां-तहां से मंगवा कर एकत्र किये थे। पचास वर्ष की आयु में नेत्र-ज्योति विहीन हो गये। उनके पुत्रों में से किसी ने संस्कृत नहीं पढ़ी थी। पत्नी अवश्य संस्कृतज्ञ थीं किन्तु पुस्तकों का भार ढोना उन्हें नहीं सुहाया। पुस्तकों से पिंड छुड़ाने के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली को उन्हें सौंप दिया। सभा के पुस्तकालय में वे दुर्लभ पुस्तकें धूलिधूसरित दशा में पड़ी हैं। न तो उनका कोई अध्येता है और न देखभाल करने वाला। धीरे-धीरे दुर्गति की पराकाष्ठा की ओर बढ़ रही हैं। यही पुस्तक की चरम परिणति है।

अभी पिछले सप्ताह ही मैंने समाचार पत्रों में पढ़ा था कि लोकनायक जयप्रकाश नारायण की चिरसंचित पुस्तकें प्रभावती पुस्तकालय पटना में भेज दी गई हैं। कौन उनकी सार-सम्भाल करता—लोकनायक के निधन के बाद वे अनाथ हो गई थीं सो पुस्तकों के अनाथालय में ठौर पा गयीं। ठौर तो पा गयीं किन्तु उनकी सही देखभाल, और सार्थक उपयोग की गारंटी कौन दे सकता है?

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने जीवन काल में अच्छी पुस्तकें इकट्ठी की थीं। भेंट रूप में भी उन्हें प्रभूत मात्रा में पुस्तकें प्राप्त हुई थीं। उनके पुत्रों ने हिन्दी साहित्य में कोई रुचि नहीं ली। एक पुत्री ने हिन्दी में डाक्टरेट किया था किन्तु उनका भी साहित्यानुराग प्रबुद्ध नहीं हुआ। यह सब सोच-समझकर डा० वर्मा ने अपना समृद्ध पुस्तकालय सार्वजनिक हित में हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद को दान दे दिया। इस प्रकार कीट-पतंग से बचकर पुस्तकें ठीक-ठिकाने लग तो गईं

किन्तु पुस्तक-प्रेमी के साथ उनका अटूट सम्बन्ध न रह पाया। पुस्तकों के भाग्य में यह वियोग विधाता ने रचना काल में ही लिख दिया था।

व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रह में सबसे विशाल भंडार मैंने देहरादून में श्री आर० सी० जैन का देखा है। इस पुस्तकालय में अस्सी हजार के लगभग विभिन्न भाषाओं की बहुमूल्य, दुर्लभ एवं संग्रहणीय पुस्तकें हैं। तीस-चालीस वर्ष से बड़ी निष्ठा और सावधानी से जैन महाशय इनकी रक्षा कर रहे हैं। पुस्तक प्रेम उनकी हौबी है। अच्छी पुस्तकें वे दूर-दूर से वी०पी० द्वारा मंगवाते हैं। बाजार में यदि पुस्तक नज़र में चढ़ जाय तो तुरन्त खरीद लेते हैं। देहरादून में उनकी विशाल कोठी है किन्तु उन्होंने पुस्तकों के लिए पूरा स्वतंत्र पुस्तकालय कोठी के प्रांगण में बनाया है। खरीदने और संग्रह करने की लालसा उनमें आज भी रहती है किन्तु रख-रखाव की व्यवस्था, उचित उपयोग का अभाव तथा उनके भविष्य को लेकर श्री जैन बड़े चिन्तित रहते हैं। दो वर्ष पूर्व गढ़वाल विश्वविद्यालय को सौंप देने की बात चली थी। कुलपति महोदय ने उन्हें पुस्तकालय क्रय करने का आश्वासन दिया भी था किन्तु सौदा पट नहीं सका। बात बीच में ही टूट गई। पुस्तकें शायद आज भी ज्यों की त्यों रखी हों। जैन महाशय को अपनी सन्तान से भी अधिक अपनी पुस्तकों से लगाव है किन्तु पुस्तक के भाग्य में विधाता ने जो लिख दिया है उसे मिटा कौन सकता है। अन्तिम परिणति तो घर से महाभिनिष्क्रमण ही है। आज नहीं तो कल उसे घर छोड़ना ही होगा। अच्छा यही होगा कि वे किसी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में शरण लें, दुर्गति से तो बची रहेंगी!

शायद आपको मालूम होगा कि सभी धर्मों में सन्तों और महात्माओं के वाणी ग्रंथ पूजा-अर्चा के विषय होते हैं। कुछ सम्प्रदायों में प्राचीन पांडुलिपियां देवविग्रह सदृश उपास्य समझी जाती हैं। अंध श्रद्धा से इन ग्रंथों की मानसी पूजा करने पर भी उनकी सुरक्षा और उपयोगिता पर किसी का ध्यान नहीं जाता। ब्रज मंडल में भक्त कवियों के असंख्य वाणी ग्रंथ ऐसे लोगों के पास बस्तों में बंधे रखे हैं जो न उन्हें पढ़-समझ सकते हैं और न किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को पढ़ने देते हैं। दीमक और कीड़ों द्वारा नष्ट हो जाने पर उन्हें जल-समाधि देने की प्रथा है। दस-दस पीढ़ियों से जो ग्रंथ सहेज कर रखे गए, देवता की तरह बन्द बस्तों में पूजे जाते रहे थे, उनका अन्तिम शरण स्थल जमुना-जल ही है। इनके निरक्षर स्वामी इसे 'ग्रंथ-निर्वाण' की संज्ञा देकर प्रसन्न होते हैं। यह संत-साहित्य की सद्गति है। आप चाहें तो इसे निरक्षर भट्टाचार्यों की मनस्वी-तपस्वी संतों के प्रति प्रणत श्रद्धांजलि कह सकते हैं।

मैं जब पुस्तकों की इस जल-समाधि अथवा कीटास्वादमुक्ति को देखता हूं तो यही सोचता हूं कि समझदार व्यक्ति को चाहिए कि यदि वह अपने घर-

परिवार में पुस्तकों के उपयोग की सार्थकता न देखे तो अपने जीवन काल में ही उन्हें किसी सार्वजनिक पुस्तकालय को सौंप दे। घर के किसी कोने में उपेक्षित पड़े रखने से अच्छा यही है कि ऐसी पुस्तकों को दूसरों के कल्याण के लिए दान दे दिया जाय।

कबाड़ी की दुकान भी पुस्तकों का अनाथालय है। जैसे कोई दयालु व्यक्ति किसी अनाथ बालक को अपने घर में रखकर पाल-पोस ले तो उसे जीवन-दान मिल जाता है ऐसे ही कभी कोई पारखी पुस्तक-प्रेमी कबाड़ी के ढेर में से किसी ज्ञानदात्री पुस्तक को चुन ले तो वह भी आह्लाद से मुस्करा उठती है, उसमें जीवन का स्पन्दन हो उठता है, उसका प्रच्छन्न ज्ञान और अनुभव पारखी का पथ प्रशस्त करने लगता है। लेकिन इस प्रकार की पुस्तकों का भविष्य फिर उसी दयनीय स्थिति से जुड़ा होता है। एक दिन उन्हें फिर वहीं—उसी उपेक्षा के वातावरण में जीना पड़ता है। फिर किसी कबाड़ी की दुकान में पनाह लेने को विवश होना पड़ता है। किमाश्चर्यमतः परम्।

पुस्तकों के सौभाग्य से आधुनिक युग में उन्हें ड्राइंग रूम में सजावट के लिए स्थान मिलने लगा है। आलीशान कोठी और बंगलों में कुछ सुन्दर आवरण पृष्ठ और सुनहरी जिल्द की पुस्तकें करीने से शो-पीस बनाकर रखने का रिवाज हो गया है। मैंने ऐसी सुन्दर पुस्तकें बड़े-बड़े अफसरों, पूंजीपतियों और नये धनिकों के यहां सजी-धजी मुद्रा में शो-केस में देखी हैं जिन्हें छूने का कष्ट कोई नहीं करता। इनसाइक्लोपीडिया, डिक्शनरी, एटलस आदि की भड़कीली जिल्दें आप वहां देख भर सकते हैं—पढ़ने का फैशन नहीं है; पढ़े-लिखे दिखने-दिखाने का फैशन है। घर में बीसियों आर्ट-पीस हैं तो पुस्तकें भी उन्हीं की संगी-साथी बनकर शोभा बढ़ाती रहें, यही इन बड़े घरों में उनकी सार्थकता है। घर के स्वामी को न तो उनके नाम और लेखक का पता है और न उनकी विषय-वस्तु से कोई परिचय है। फिर भी अपनी सौन्दर्याकृति तथा सांस्कृतिक स्थिति के कारण वे घर में ठौर पा सकी हैं। ऐसी शोभाकारक पुस्तकें सदा अछूती ही रहती हैं। घर में फर्राश के सिवा उन्हें कोई नहीं छूता, पढ़ने की बात तो कोसों दूर है। मुझे मेरे एक मित्र ने बताया था कि उन्होंने एक बार अपने धनी मित्र के ड्राइंग रूम में करीने से सजी-धजी पुस्तकों की एक सी जिल्द देखकर उनसे पूछा था कि क्या यह एक ही पुस्तक की बीस प्रतियां हैं या अलग-अलग पुस्तकें हैं। धनी गृहस्वामी ने बड़े उपेक्षा भाव से उत्तर दिया कि "ये किताबें 'इंटीरियर डेकोरेटर' ने सजाई हैं। ये खुशनुमा आर्टपीस हैं। इन्हें छेड़ें नहीं। ये गृह-सज्जा के लिए यहां रखी गयी हैं। इंटीरियर डेकोरेटर ने कह रखा है कि इनका स्थान न बदला जाय, इन्हें पढ़ने के लिए नहीं, शोभा के लिए रखा गया है।" शायद वे पुस्तकें इनसाइक्लोपीडिया की भड़कीली बीस जिल्दें थीं।

बेचारा भोला गृहस्वामी उनकी यथास्थिति में खलल क्यों पैदा करे ?

× × ×

यह सब देखकर मैं सोचने लगता हूं कि जिस विद्याध्ययन को सर्वश्रेष्ठ ठहराया जाता है : 'सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुसूत्तमम्' और जिसके विषय में कहा गया है : 'न चौरहार्यं न च राजहार्यं, न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि'— वह पुस्तकें उत्तम नहीं रहतीं और भार क्यों बन जाती हैं ? विद्या रूपाकार हीन सूक्ष्म है; पुस्तक रूपाकृति-युक्त स्थूल है। शायद इसी विकृति से वह दोषयुक्त होकर भार बनती हो ! खैर, जाने दीजिए, कारण कुछ भी हो लेकिन यह तो आपको मानना ही होगा कि पुस्तक-संग्रह की चरम परिणति अच्छी नहीं होती। पुस्तक की पराकाष्ठा या परागति उसकी दुर्गति में निहित है। सचमुच यह बड़े खेद का विषय है। क्या पुस्तकों को दुर्गति तक पहुंचाने के लिए ही हम लोग पुस्तकें संकलित करते हैं। नदी पार कर लेने के बाद नाव की याद किसे आती है, शायद पुस्तक पढ़ लेने के बाद उसका भी वही स्थान हो जाता हो। कहीं पढ़ा था कि आर० एल० स्टीवेन्सन को पुस्तक पढ़ने का तो बड़ा शौक था किन्तु पुस्तक-संग्रह में उनका विश्वास न था। रेल-यात्रा के समय वे तीन-चार पुस्तकें साथ रखते थे और जिसे पढ़कर समाप्त किया उसे रेल की सीट पर ही छोड़ दिया। पार्क में भी वे पुस्तकें सीट पर रख आते थे। उन्होंने पुस्तक-संग्रह का मोह नहीं पाला। नदी-नाव संयोग में ही उनका विश्वास था।

पुस्तकों के साथ हमारा सम्बन्ध वयस के साथ भी होता है। कुछ पुस्तकें शैशव में सुहाती हैं, कुछ युवावस्था में बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं और कुछ वार्धक्य में पठनीय बनती हैं। आयु की प्रौढ़ि पर पहुंचने पर धीरे-धीरे सभी प्रकार की पुस्तकों से स्नेह का नाता टूटने लगता है। पढ़ना-लिखना भार प्रतीत होता है। पुस्तक के अक्षर काला अक्षर भैंस बराबर भले ही न लगते हों किन्तु उन अक्षरों की सार्थकता पहले जैसी नहीं रहती। कबीरदास ने पोथी के भार होने का रहस्य बिना पोथी पढ़े ही समझ लिया था। उनकी दृष्टि में 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय' ही परम सत्य था। हम लोग हजारों पुस्तकें पढ़कर भी इस तत्त्वज्ञान तक नहीं पहुंच पाते। जब पढ़-पढ़कर पंडित नहीं हो पाते तब पुस्तकें भार लगने लगती हैं। पुस्तक संग्रह करने का मोह भंग होता है और कबीर की बुद्धि को दाद देने को मन करता है।

कबीर ने 'मसि कागद छूआ नहीं कलम गही नहिं हाथ' फिर भी दूसरों के हाथ में सैकड़ों कलमें वे थमा गये जिन्हें लेकर कबीर-दर्शन, कबीर-भक्ति, कबीर का रहस्यवाद, कबीर का समाजवाद, कबीर की भाषा, आदि विषयों पर ग्रंथ पर ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। कबीर वाणी पर ग्रंथ लिखने वाले कबीर के तत्त्व दर्शन

को न समझकर ही इस प्रकार के प्रयास करते हैं। कबीर ने कोई पुस्तकालय नहीं बनाया था। लेखनी नहीं पकड़ी, पोथी नहीं पढ़ी, फिर ये लेखकगण उनकी वाणी से पुस्तकों का अम्बार क्यों लगा रहे हैं ? कोई कबीर को वाणी का डिक्टेटर कह रहा है तो कोई सर्वोच्च कोटि का रहस्यवादी। किसी की दृष्टि में कबीर परम भक्त हैं तो किसी के मत में मानवतावादी संत हैं। इन सब मान्यताओं के लिए दर्जनों ग्रंथ कबीरदास के विषय में लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं। कबीर को समझने की दिशा में इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी ?

आप नवनीत का सम्पादन करते हैं। बहुत बड़े ग्रंथ समुच्चय और पत्र-पत्रिकाओं को मथकर नवनीत के लिए मैटर जुटाते होंगे। इस प्रक्रिया में पुस्तक-संग्रह और कालान्तर में उनका विसर्जन भी करते होंगे। पुस्तकों के साथ आपका कैसा व्यवहार रहता है यह मैं नहीं जानता किन्तु इतना तो अनुमान से कह ही सकता हूं कि आप भी पुस्तकों से पीछा छुड़ाने के लिए उन्हें घर और कार्यालय से विदा करते ही होंगे। कितनी दयनीय स्थिति है यह उन पुस्तकों की जिन्हें आप कभी छाती से चिपकाये पढ़ते-पढ़ते गहरी नींद में सो जाया करते थे ! परमात्मा के यहां न्याय नहीं है—पुस्तक को वाणी का वरदान न देकर उसने अपने दयालु और न्यायप्रिय होने को असिद्ध किया है !

पुस्तकों की व्यथा-कथा कोई नहीं सुनता। पुस्तकालय और कबाड़ी की दुकान दो ही उसके अन्तिम शरण स्थल हैं। तीसरी गति तो ध्वंस ही है ! काश, पुस्तकें बोल पातीं, मुखर होतीं, और घर से निष्कासित होने पर अपना ज्ञान भी वे अपने साथ ले जातीं तब मानवजाति परंपरा प्राप्त ज्ञान से वंचित होकर पुस्तक-महत्त्व को समझ पाती !

पुस्तक-महिमा मैंने बहुत सुनी है, आपने भी सुनी होगी। लेकिन वह सारी महिमा मर जाती है जब पुस्तक घर में ही भार बनकर सालने लगती है। मैं अपने अनेक मित्रों के घरों में पुस्तक के प्रति उपेक्षा का बर्ताव देख रहा हूं। अधिकांश मित्र आयु की प्रौढ़ि पर इनसे पिंड छुड़ाने और स्थान खाली करने में लगे हैं। क्या यही पुस्तक-प्रेम और पुस्तक की सद्‌गति है ? क्या यही पुस्तक की नियति है ?

पत्र लम्बा हो गया किन्तु पुस्तक की व्यथा-वेदना भी बहुत बड़ी है। मूक वेदना को वाणी देने का ही मैंने अल्प प्रयास किया है। सस्नेह,

आपका
विजयेन्द्र स्नातक

श्री नारायण दत्त,
सम्पादक 'नवनीत'
बम्बई

भारत के गांव की सच्ची तस्वीर 'अलग-अलग वतरणी'

संदर्भ

डा० शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़कर मैंने अपनी प्रतिक्रिया उन्हें सन् १९७० में लिखी थी। मुझे यह उपन्यास भारतीय गांवों के यथार्थ का उद्घाटन करने वाला प्रतीत हुआ। फलतः मैंने सहज भाव से लेखक को पत्र द्वारा अपनी बधाई लिख भेजी। उपन्यास लेखक ने मेरे पत्र का जो उत्तर दिया वह भी संलग्न है। उनके उत्तर से पूरा संदर्भ स्पष्ट हो जाता है। 'स्थापना' के सम्पादक श्री शिवचन्द्र शर्मा ने इसे सन् १९७० में प्रकाशित कर दिया था। जिन लोगों ने मेरा पत्र पढ़ा उन्होंने मुझे सही पकड़ के लिए बधाई लिखी। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पत्र की सार्वजनिक रूप से सराहना की थी।

ए-५।३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
२६-१-७०

प्रिय भाई शिवप्रसाद सिंह,

मेरा यह पहला पत्र पाकर तुम्हें कुछ विस्मय होगा। बिना भट-साक्षात्कार के सीधे स्वकीय सम्बोधन से पत्र लिखने की विवशता के लिए सफाई क्या दूं। फिर भी भीतर से उभरती माफी मांगने की अनिवार्यता को प्रकट किये देता हूं, भले ही तुम्हें यह थोथी औपचारिकता लगे लेकिन जिसे तुमने कभी देखा नहीं, जाना-पहचाना नहीं, वह पहले ही पत्र में अशिष्ट क्यों दिखाई दे!

मैं २२ जनवरी को विश्वविद्यालय के कार्य से काशी आया था। २३ को भी ठहरा था। बड़ी प्रबल इच्छा थी तुमसे भेंट करने की। यों आदान-प्रदान को तो कुछ न था लेकिन करैता गांव की तस्वीर उतारने वाले के पास रखा 'नेगेटिव' देखने को मन व्याकुल था। उस दिन तुम विश्वविद्यालय नहीं आये और मैं अपनी इच्छा अपने मन में दबाये वापस दिल्ली लौट आया। हां, डा० बच्चन सिंह से कह आया था कि शिवप्रसाद सिंह जी से भेंट होने पर मेरी उत्कंठा उन तक पहुंचा देना। मालूम नहीं उन्होंने तुमसे कुछ कहा या नहीं।

× × ×

'अगल-अलग वैतरणी' को मैं प्रकाशित होते ही नहीं पढ़ सका था। उपन्यास मैं कम ही पढ़ पाता हूं लेकिन पठनीय को छोड़ता भी नहीं हूं। 'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़ने का विचार तो प्रारम्भ से था किन्तु १।। वर्ष तक पुस्तक न मंगा सका और पढ़ने की बात टलती गई। पिछले अवकाश के दिनों में पुस्तक मंगा कर पढ़ गया हूं। पढ़ने के बाद इच्छा हुई कि लेखक को बधाई लिखूं लेकिन उसमें भी प्रमाद होता रहा।

एक वाक्य में कहूं तो यही होगा कि करैता गांव की धमनियों में प्रवाहित होने वाले रक्त, रक्त ही क्यों, मज्जा, मांस, अस्थि, त्वक् सभी को मैंने इस उपन्यास में देखा है। जितने छोटे गांव की कथा है उतना ही विराट फलक है कथा-विस्तार का। कथा-विस्तार या पात्रों का जमघट शायद उतनी बड़ी बात नहीं होती जितनी कि कथा के भीतर व्याप्त संवेदना और पात्रों के चरित्र से संश्लिष्ट अन्तर्द्वन्द्व की सूक्ष्म पकड़। मैंने गांव के पात्रों को इस सहज-स्वाभाविक रूप से उद्घाटित होते कभी नहीं पढ़ा था। मैं चकित रह गया कि तुम बीसियों वर्षों से शहरी जीवन बिता रहे हो फिर भी गांव की अन्तरंग संवेदना के इतने

समीप सटे बैठे हो कि उसकी हर धड़कन को पकड़ सके हो। संवेदन का स्टेथेस्कोप तुमसे छूटा नहीं है।

मेरे पितामह कृषक थे। गांव में रहते थे। मेरे पिता पढ़-लिखकर अध्यापक हो गये तो गांव छूट गया। बचपन के ५-७ वर्ष गांव में बिताये थे जिसकी धुंधली सी तस्वीर मेरी याददाश्त में है। जब करैता गांव की जीती-जागती तस्वीर 'अलग-अलग वैतरणी' में देखी तो एक समूचा और सच्चा गांव मेरी आंखों के सामने साकार हो गया। इस गांव को मैं आंचलिकता की संकीर्ण परिधि में बांधने को हर्गिज तैयार नहीं हूं। आंचलिकता से भूगोल का ही सम्बन्ध नहीं है, एक विशिष्ट दृष्टि भी उसमें समाई रहती है। मेरी अपनी राय में वैसी आंचलिक दृष्टि से यह उपन्यास न तो लिखा गया है और न पढ़ा ही जा सकता है। करैता अंचल को नहीं उभारता। यह समग्र अन्तर्दृष्टि से गांव और गांव के वातावरण को सांस में उतारता है। 'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़ते समय कुछ ऐसा लगता है कि हम उसके मात्र पाठक या द्रष्टा ही नहीं सहभोक्ता हैं—सहभोक्ता से बात साफ न हो तो कोई और अच्छा शब्द ढूंढ लें। मेरा मतलब गांव की धड़कन को महसूस करने वाले उस सहभोक्ता से है जो सुख-दुःख, द्वन्द्व-संघर्ष को गांव के परिवेश में सहता-भोगता हो, समझता हो।

करैता गांव के रेशे-रेशे की धड़कन सुनने की जिसमें शक्ति होगी वही ऐसा उपन्यास लिख सकता है। जमींदारों के अत्याचार की कहानी तो बीसियों उपन्यासों में लिखी गई किन्तु छावनी के उजड़े वैभव के बीच जैपालसिंह, बुझारथ, विपिन और कनिया की मर्मकथा लिखने वाली लेखनी तुम्हीं पा सके हो। टूटते हुए सामन्ती दबदबे की अन्तिम कड़ी को पकड़ कर झूलने वाले बुझारथ के चरित्र की कल्पना तो प्रेमचन्द भी नहीं कर सके थे। 'महुआ की रोटी केसारी की दाल' का गीत भले ही आसूदगी से रहित दरिद्रता का द्योतक हो लेकिन अकालवादी देश में इससे अधिक सार्थक गीत और कौन सा हो सकता है! यह गीत पेट की भूख और ज्वाला को वाणी देता है।

'अलग-अलग वैतरणी' के पहले पृष्ठ से गांव का मेला सामने आया। कस्बे के मेले मैंने देखे हैं। बड़ा अन्तर नहीं है। करैता का मेला, केवल मेला न हो कर चरित्रों से परिचय पाने का सुयोग भी है। बालू पंडित उर्फ दयाल से पहली भेंट इस मेले में ही होती है। घर से फालतू लेकिन सर्वक्षेम के लिए अनजाने समर्पित, दयाल अपनी साधारणता में ही असाधारण है। चमरपिल्ली सुगनी (चमरपिल्ली केवल एव्यूज नहीं उसके गुण-कर्म का बोधक भी लगता है) छविलवी, सिरिया, सरजूसिंह वगैरह से पाठक मेले में ही मिल लेता है। कुश्ती-दंगल, अखाड़ा, और न जाने क्या-क्या देखने को मिलता है। सीपिया नाले का

परिवेश करैता के गुह्य को जिस आतंक के साथ छिपाये हुए है उसका आभास यहीं मिल जाता है । यदि मेले की पेशकश शुरू में न होती तो पाठक को गांव की विविधता का ऐसा अनायास और सहज परिचय न मिल पाता ।

कैसी पैनी अन्तर्दृष्टि है, कहां-कहां झांक आये हो । मन की अतल गहराइयों में छिपी लालसा-वासना को कैसे उघाड़ कर रख दिया है । विपिन, पुष्पा, देवनाथ, कनिया, पटनहिया भाभी जिसे ढांपने-छिपाने में सदैव सतर्क रहे उसे अंकित करने की सतर्कता और अधिक स्पृहणीय बन गई है । खलील मियां की व्यथा को वही समझ सकेगा जिसने भारत विभाजन से पहले का देहात देखा हो । खलील मियां करैता गांव का सच्चा मुस्लिम-हिन्दुस्तानी है । उसे अंकित करने में विभाजन का घातक प्रभाव स्वतः मुखर हो उठा है । विभाजन का प्रभाव भारत के मुसलमान पर केवल आर्थिक या राजनीतिक ही नहीं—सांस्कृतिक भी है । यह खलील मियां के अन्तर्मन की झांकी से प्रकट होता है । शशिकान्त और मुंशी जी पर भी तुम्हारी नज़र गई है और दोनों का चारित्रिक विरोध गांव के यथार्थ को बेपर्दा कर देता है । पात्रों के ब्योरे में मैं नहीं पड़ना चाहता क्योंकि पत्र व्यर्थ लम्बा होगा लेकिन मुझे हर पात्र का प्रयोजन सार्थक लगा है । पात्र और उनका चरित्र गांव की ज़िन्दगी के हालात पर जिस तरह रोशनी डालते हैं उससे गांव पाठक की नज़र में उजागर हो उठते हैं ।

करैता के कुत्सित-कदर्थित, गर्हित-पीड़ित, मत्सरी-ईर्ष्यालु, संकीर्ण-स्वार्थी, नारकी-पातकी, लोलुप-लालची पात्रों के बीच निर्भीक, सत्यप्रिय, न्यायपरायण और सहिष्णु चरित्रों की निष्ठा और तितिक्षा देखकर मुझे नाचिरागी मौजे से उम्मीद बंधी थी, लेकिन उपन्यास के अन्त तक आते-आते करैता का ठनकना उग्र होता गया और मुझे लगा कि गांव सचमुच ही निर्यात के लिए रह गए हैं । "जो भी अच्छा है, काम का है, वह वहां से चला जाता है ।" देवनाथ भी गांव छोड़ गया, विपिन जौनपुर खिसक गया । और तो और, बहाना करके दयाल भी विपिन के साथ हो लिया । सुरजितवा ने भी करैता छोड़कर कस्बे में लौंड्री खोल ली । लौंड्री मात्र धोबी का धंधा है या इसका भी कोई प्रतीकार्थ है ? कस्बे के लोगों का मैल उतारना—या उनकी सफेदपोशी के प्रति आकर्षण से लौंड्री खोलना सुरजितवा की प्रेरणा है ? अपने ग्राम जीवन के साथ लिपटी कटु-तिक्त स्मृतियों को समेट कर जब विपिन करैता छोड़ गया तब मिसिर चाचा को लगा कि जिनके पास चमक है वे खिसक रहे हैं । यही दुर्विपाक गांव की जीवनी शक्ति को जर्जर कर रहा है । गांव वाहियात हो गया है यह बात मिसिर की समझ में शायद न आई हो क्योंकि वे तो यही कहते रहे कि "असली चीज़ तो धरती है, धरती ही खेमा है, खेमा खराब होगा तो इन्तज़ाम

बिगड़ेगा···।" मिसिर की बात विपिन ने भले ही न समझी हो पर बात बड़े पते की है जिसे स्वाधीन देश के नेताओं को समझना होगा—जनता को भी समझाना होगा। धरती, खेमा, गांव, करैता···। ये सब वाहियात नहीं हैं, इनकी पकड़ कमज़ोर पड़ने से इन्हें महानगरों ने वाहियात बना दिया है। मैं नहीं कहता कि गांव बेगुनाह हैं लेकिन एक हद तक भले और भोले ज़रूर हैं।

मेरे मन पर उपन्यास एक गहरा प्रभाव छोड़ गया है। उजड़ते-कलपते गांवों के बसाने का दायित्व किस पर है ? दरोगा को छोड़कर करैता में कोई अधिकारी नहीं गया। आबपाशी, आबकारी, परिवार-नियोजन, कृषि, शिक्षा अधिकारी किसी के दर्शन नहीं हुए। करैता इतना पिछड़ा हुआ है कि साइकिल का भी उसमें प्रवेश नहीं है। ट्रैक्टर, मोटर, इंजन की तो बात ही दूर है। इस देश के गांव को यदि करैता ही बने रहना है तो स्वतंत्रता की सार्थकता क्या है ! क्या गांवों के भाग्यों में करैता का ठनकना ही बदा है। शशिकान्त, देवनाथ, खलील मियां, विपिन और दयाल की क्या करैता में सचमुच आवश्यकता नहीं रह गई है ! तुमने बहुत बड़ा सवाल खड़ा कर दिया। सत्तर-बहत्तर लाख गांवों का देश है यह भारत। क्या करैता की विडम्बना ही उनके भाग्य में लिखी है। प्रेमचन्द ने किसान, मजदूर पंडित, पटवारी, महाजन, पुलिस-सिपाही तक ही गांव को अंकित किया था। तुम्हारी दृष्टि गांव के कण-कण में व्याप्त हो गई है। करैता के माध्यम से वह दृष्टि भारत के पीड़ित-शोषित गांवों के झुंड पर जाती है। लगता है कि झुंड होना ही अभिशाप है, कलंक है। विपिन, देवनाथ और शशिकान्त झुंड नहीं हो सके, अंधेरे गांव को छोड़ चिराग की तलाश में शहर चले गये। क्या सचमुच उन्हें वहां चिराग की रोशनी मिली होगी ? उपन्यास मेले के दृश्य से शुरू हुआ था। मेला हमेशा नहीं रहता सो इस गांव का मेला भी एक दिन खत्म हुआ—मेला खत्म होने की गूंज मेरे मन में ध्वनित और प्रतिध्वनित हो रही है। इस गूंज की व्यंजना को पाठक बड़ी कसक के साथ समेटता है।

बहुत कुछ था मेरे मन में कहने को, लेकिन अब पत्र लिखते समय भूल गया हूं। जो स्मरण रहा लिख दिया। खत में ज्यादा लिखना ठीक भी नहीं है। पुरानी मसल है—थोड़ा लिखा बहुत जानना। ज्यादा क्या लिखूं। सस्नेह,

तुम्हारा
विजयेन्द्र स्नातक

डा० शिवप्रसाद सिंह
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० शिवप्रसाद सिंह
सुधर्मा
१३, गुरुधाम,
वाराणसी-५
५-३-७०

आदरणीय बन्धु,

प्रणाम ।

आपका लम्बा पत्र बसन्ती हवा की तरह लगा । मैं इस हवा से हमेशा बीमार पड़ जाता हूं, बकौल जग्गन मिसिर जब भी "यह हवा बदन को छूती है, तबीयत खुश होने को होती है कि जुकाम हो जाता है ।" सो पिछले दो महीनों से रह-रहकर यह हवा चलती रही है, बावजूद इसके कि इस साल फसल खराब करने वाली बदली और बरसा भी कम नहीं हुई । मैं ठीक ऐन आपके काशी आगमन के अवसर पर 'फ्लू' की गिरफ्त में आ गया । बड़ी तमन्ना मुझे भी थी आपसे मिलने की । पर कौन जाने, शायद मैं उस वक्त मिल गया होता तो यह स्नेहपूर्ण बेशकीमत दस्तावेज़ जो मुझे मिला है, मिलता या नहीं । 'अलग-अलग वैतरणी' पर लोगों की अलग-अलग ढेर सारी रायें हैं, और यदि उसकी कोई सार्थकता है तो सिर्फ इतनी कि उसने अलग-अलग रायें कायम करने के लिए 'कूटस्थ और तटस्थ' लोगों को भी चलायमान किया, मेरे पास सच्चे आलोचकों के बहुत खत यानी देहाती भाषा में 'एक बोरी चिट्ठियां' प्राप्त हैं । विश्वविद्यालयीय आलोचकों को मेरे मित्र 'असली' नहीं मानते सो तो आपने आलोचना-११ में देखा ही होगा—पर असली और नकली दोनों ही किस्मों के लोगों ने इस मामूली बात पर भी ध्यान नहीं दिया कि उपन्यास के शुरू में वर्णित मेला पाठकों को खींचने का 'त्रिविक्रम' या 'तिकड़म' नहीं, जैसा आपने कहा, "सभी पात्रों से शुरू में ही मिल लेने का सुयोग" मात्र है । और क्या वह मेला हमेशा ही लगा रहा, उपन्यास शुरू ही होता है । "आज मेला लगा है, कल खत्म हो जाएगा"—यदि यह वाक्य प्रतीक बनकर पाठकों के मन में उपन्यास खत्म होने पर भी गूंज नहीं सका, तो कहीं न कहीं मेरी कमज़ोरी होगी ।

बहर हाल आपके खत में ढेर सारी बातें हैं, उद्गार हैं, निष्कर्ष हैं, स्नेह और आशीर्वाद है, प्रोत्साहन और सहचिन्तन है, मैं इस सबके योग्य भी हूं या नहीं, अभी तो यही चिन्ता है । यदि भविष्य में 'अलग-अलग वैतरणी' से आगे की कोई कृति आयी, तो उसमें आप जैसे निर्हेतुक बन्धुओं के ममत्व का ही

योग होगा। विश्वविद्यालय, बाहर वालों के लिए, जो आज बाहर रहने की विवशता को दार्शनिक उपलब्धि समझते हैं, चाहे कितने भी निरर्थक और बेकार क्यों न लगें, भीतरी insiders के लिए, यदि वे एकाकी होने के सुख से परिचित हैं, तो आप जानते हैं कितने confrontations के लिए चुनौती देते हैं, और हम इसी inside में outsider बनकर इन चुनौतियों से जूझ रहे हैं, इन्हें बेहतर शिक्षा केन्द्र बनाने की हमारी अभीप्सा शायद अध्यापकीय कलंक को, जो इन दिनों चारों तरफ से हमारे ऊपर उछाला जा रहा है, साफ कर सके। ऐसे ही वर्ग के अध्यापकों में मैं आपको शामिल करने की धृष्टता करता हूं, इसीलिए आपसे मिल न पाने का दर्द मुझे भी है। लेकिन फिर सोचता हूं कि क्या यदि इस तरह की सहभुक्ति जहां हो, वहां सशरीर मिलना ज़रूरी ही है ?

छोड़िए—कहां की बात कहां गई; पर लाचारी है। विश्वविद्यालय से बाहर रहने वाले मौलिक चिन्तकों का 'बिब्बोक' हमें चैन की नींद सोने नहीं देता—

उन्निद्रा, भींगती रात, गद्य-पद्य
नीली-पीली गोलियां नींद की
बिब्बोक बिब्बो का अनवद्य
छाती पर पुस्तक आंद्रे ज़ीद की।

यही है हाल अपना। थोड़ा लिखना, बहुत समझना।

स्नेहाधीन
शिवप्रसाद सिंह

डा० विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली

आज का हिन्दी साहित्य
अध्यापन और अध्यापक

संदर्भ

सन् १९७५ में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाराणसी के सम्मान में उनके शिष्यों तथा मित्रों ने अभिनन्दन ग्रंथ की एक योजना तैयार कर मुझे उसका प्रधान सम्पादक मनोनीत किया था। पत्राचार के लिए एक सुन्दर लैटर-पैड छपवाया गया जिस पर लेखकों को पत्र लिखे जाते रहे किन्तु उस लैटर-पैड पर मैंने मिश्र जी को जानबूझ कर एक भी पत्र नहीं लिखा। सन् १९७६ के दिसम्बर मास में अभिनन्दन ग्रंथ तैयार हुआ और दिल्ली में अभिनन्दन समारोह का विशाल आयोजन किया गया। इस भव्य आयोजन के बाद ही मैंने मिश्र जी को इस पैड पर एक विस्तृत पत्र लिखा जिसमें साहित्य की प्रगति और हिन्दी-प्राध्यापकों पर कुछ तीखी टिप्पणी है। पत्र लिखने की प्रेरणा मुझे मिश्र जी के भाषण से ही मिली थी।
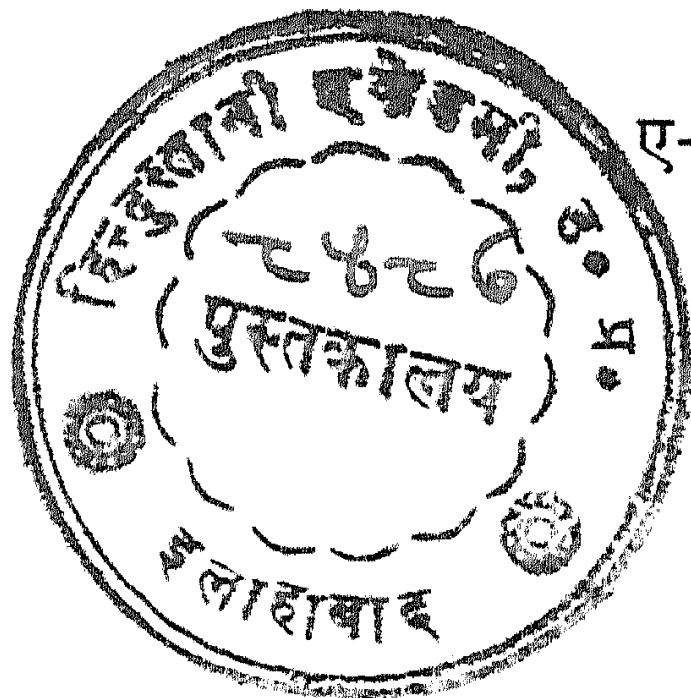
ए-५१३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
१६-१२-७६

आदरणीय पंडितजी,

सादर प्रणाम। जिस कागज पर मैं यह पत्र आज आपको लिख रहा हूं वह मुझे अपनी सार्थकता के कारण प्रिय लग रहा है, इसीलिए पहली बार आपको इस पर लिखने के लिए चुना। इस पैड पर सैकड़ों पत्र दूसरे मित्रों को लिखे किन्तु जानबूझ कर आपको नहीं लिखा। मन के किसी गुह्य स्तर पर एक अनजाना सा भय था कि कहीं यह कागज अपने को सार्थक न बना सका तो क्या होगा। १५ दिसम्बर को यह पैड पूर्णतः चरितार्थ हुआ और मुझे अनुभव हुआ कि मुद्रित रूप में यह पैड ही हमारे संकल्प का प्रथम पदन्यास था। अन्तिम चरण तक पहुंच जाने पर एक बार आपको भी इस पैड पर दो शब्द लिखकर मन में व्याप्त हर्ष-पुलक की पुनरावृत्ति क्यों न करूं।

१५ दिसम्बर १९७६ का दिन मेरे जीवन के गिने-चुने सफल दिनों में है। इस दिन मेरी एक सात्त्विक मनोकामना पूरी हुई। आपके सार्वजनिक अभिनन्दन का स्वप्न चि० रामजी मिश्र के पुरुषार्थ से सफल हुआ। दुबली-पतली काया में रामजी मिश्र के पास संकल्प की अटूट सम्पत्ति है। रामजी की गुरु-भक्ति के आगे मैं मन ही मन नतशिर हूं। जो कुछ मन में चाहा था, और जो हम दोनों का अभीष्ट था, वह सब चरितार्थ हुआ। ग्रंथ तैयार हुआ। बड़े शान्त-स्निग्ध सात्त्विक वातावरण में उसका समर्पण-समारोह सम्पन्न हुआ। किसी सारस्वत अनुष्ठान के लिए जैसे सांस्कृतिक परिवेश की आवश्यकता होती है वह सर्वतोभावेन १५ दिसम्बर की संध्या को हमें सुलभ हो सका इसके लिए भगवान् विश्वनाथ का स्मरण तो स्वाभाविक ही है, उनकी अहैतुकी कृपा के बिना यह सम्भव नहीं था, किन्तु आचार्य विश्वनाथ का प्रसाद हमें न मिलता तब क्या यह समारोह हो पाता! अतः प्रभुवर विश्वनाथ और आचार्यप्रवर विश्वनाथ—दोनों के प्रति मैं अपनी श्रद्धा निवेदित करता हूं। आपने कृपापूर्वक राजधानी में पधार कर, कड़ाके की सर्दी का शारीरिक कष्ट सहकर हमें कृतार्थ किया तदर्थ मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं।

अभिनन्दन ग्रंथ की तैयारी से लेकर अभिनन्दन-समारोह के सम्पन्न होने तक महाबली संकटमोचन हनुमान की असीम शक्ति रामजी मिश्र में किसी दिव्य प्रेरणा से संक्रमित हो गई थी। रामजी मिश्र एक नहीं अनेक हो गये थे। यदि गुरु के लिए उनसे मैं विन्ध्याचल उठा लाने को कहता तो कोई आश्चर्य नहीं

कि वे हिमालय को भी साथ उठा लाते। राजधानी में जलसे-तमाशे रोज़ ही होते हैं, बड़े पैमाने पर होते हैं लेकिन ऐसा विशुद्ध सारस्वत अनुष्ठान वर्षों बाद ही सम्भव हुआ था। अभी तक इस समारोह की गूंज राजधानी के साहित्यिक एवं शैक्षिक वातावरण में व्याप्त है।

डा० रामजी मिश्र के अनुरोध से मैंने अभिनन्दन ग्रंथ का प्रधान सम्पादक बनना स्वीकार किया था लेकिन मेरे भीतर ही मेरा जो प्रतिरूप बैठा हुआ है वह मुझे प्रेरित कर रहा था कि इस शुभ कार्य को हाथ से न निकलने देना। यह पावन यज्ञ है, एक आहुति देकर भी धन्य हुआ जा सकता है। मुझे तो होता-अध्वर्यु उद्गाता सभी कुछ बनने का सौभाग्य मिल रहा है। मैं प्रधान सम्पादक बनकर गौरव का अनुभव कर रहा था किन्तु मन के किसी कोने में एक छोटा-सा अज्ञात भय भी समाया था कि कहीं ऐसा न हो कि यह कार्य आपके यश, मान, सम्मान, पद और गौरव के अनुकूल न बन पड़ा तो क्या होगा। जग-हंसाई तो होगी ही, स्वयं अपने भीतर असफलता की आत्मग्लानि भी उत्पन्न होगी। रामजी मिश्र के उत्साह से ढांढस बंधता था—काम तो रामजी करते और परितोष मुझे होता। इसी तरह इस शुभ कार्य का क्रम चलता रहा। और वह दिन आ गया जब रामजी मिश्र गुरुभक्ति में डूबकर अनिर्वचनीय संतोष के सागर में निमज्जित थे और मैं उनकी सफलता पर पुलकित हो उत्सव का आनन्द ले रहा था। यदि ब्रह्म साक्षात्कार का कोई सुख होता है तो रामजी मिश्र को वह सुख गुरु के साक्षात्कार से निश्चय ही १५ दिसम्बर को प्राप्त हुआ था। मेरा सुख तो उनके सुख का शतांश भी नहीं है लेकिन मैं शतांश को भी किसी सुख से कम नहीं मानता। मेरा हर्ष भी अतुलनीय है। इस यज्ञ में सम्मिलित होकर मैंने अपने को धन्य समझा है।

अभिनन्दन ग्रंथ मेरी देख-रेख में तैयार हुआ। ग्रंथ की पांडुलिपि मैंने देखी थी। प्रारम्भ के छपे फर्मे भी देखे थे किन्तु मुद्रित होने के बाद आद्यन्त देखने का अभी अवसर नहीं पा सका हूं, मेरा ग्रंथ-निर्माण में प्रयत्न यही था कि यह आपके गौरव के अनुकूल तो अवश्य हो—साथ ही भक्ति और रीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों तथा काव्यधाराओं का परिचायक भी बन सके तो पाठक के लिए उपयोगी हो सकेगा। हमने इन विषयों का जिन्हें विद्वान् समझा उनसे सम्बद्ध विषयों पर लेख मांगे थे। अधिकारी विद्वानों का हिन्दी में शनैः-शनैः अभाव होता जा रहा है, दंभी विद्वानों का अकांड-तांडव सर्वत्र व्याप्त है। मैंने उनसे जानबूझकर पत्राचार नहीं किया। जिन्हें विद्वान् समझा और उनसे जो कुछ मिल सका, श्रेष्ठ मान कर ग्रंथ में संकलित किया। आप इसकी गुणवत्ता पर ध्यान न दें। हमने शुद्ध भावना से सबको शिरोधार्य किया है। आपको हमारी ओर से समर्पित है यह ग्रंथ, शुद्ध भावना के स्तर पर ही आप इसे स्वीकार

कर हमें कृतार्थ करें। आपने दिल्ली पधार कर हमारे अनुरोध की रक्षा ही नहीं की वरन् हमें अनुगृहीत भी किया है, अतः यह आपकी कृपा भी है और हमारे ऊपर अनुग्रह भी। प्रकृत संदर्भ मे दोनों शब्द सटीक-सार्थक हैं।

× × ×

आपने अपने लिखित वक्तव्य में जिन विद्वानों की व्यथा की कथा कही थी वह सचमुच उन साहित्य साधकों की कथा है जिन्होंने साहित्य-सेवा को अपने जीवन में सर्वोच्च माना था। साहित्य और भाषा के लिए समर्पित ये महान् विभूतियां अपने जीवन में साधारण सुख-सुविधा भी नहीं पा सकीं। हां, यश तो उन्हें मिला जो आज भी अक्षुण्ण हैं। यशःप्रसार पर बांध नहीं बांधा जा सकता, वह तो पुष्प की सुरभि की तरह पवन-प्रवाह से दिग-दिगंत तक अनायास फैलता है। यदि उनके यश को स्वायत्त करने का कोई उपाय निकल आता तो शायद आज के चतुर-चालाक लोग उसे भी अपनी झोली में समेट लेते। आज वे सभी विद्वान् अपने यशःशरीर से हमारे मध्य विद्यमान हैं। आपने ठीक ही कहा था कि अपने रहने के लिए उस समय के विद्वान् प्राध्यापक प्रासाद तो क्या कुटिया तक नहीं बना सके। ऊंचे वेतन-मान से भी वे आजीवन वंचित रहे। राजनीति के राजमार्ग से वैभव के शिखर पर वे लोग नहीं पहुंचे। समर्पित भावना से जीवन के अन्तिम क्षण तक ज्ञान की दीपशिखा जलाये आलोक बिखेरते रहे। अपरिग्रह का ऐसा सात्त्विक भाव आज हम अध्यापकों में कहां है! जो व्यक्ति उन साहित्य साधकों के संपर्क में आये उन्होंने ज्ञान का आलोक पाया और वे व्यक्ति आपकी तरह आज भी मुक्तभाव से दूसरों का पथ आलोकित करने में संलग्न हैं। आपके पास वैदुष्य का वैभव है। बैंक बैलेंस की जिन्हें चिन्ता है और जो निरन्तर लक्षाधिपति बनने का उपक्रम करते रहते हैं उन्हें कौन सम्मान देता है। पड़ोस का गंगू तेली भी उन्हें नहीं पहचानता, राजा भोज की कौन कहे!

मैं आज के अध्यापक समाज का अंग हूं किन्तु उनकी गतिविधियों से प्रसन्न नहीं हूं। आपकी अप्रसन्नता मुझे आपके वक्तव्य में अभिधा से न सही—व्यंजना से स्पष्ट प्रतीत हुई। विद्या-व्यसन जिस द्रुतगति से छीज रहा है उतनी तेज़ी से तो हमारा शरीर भी शीर्ण नहीं होता। आज तो पल्लवग्राहिता भी दुर्लभ होती जा रही है। पुस्तक-सूची अर्थात् केटोलागीय ज्ञान ही पर्याप्त हो गया है। आपने जो संकेत किया था उस पर कुछ कहना व्यर्थ है, वह इतना सार्थक, सटीक और व्यंजक है कि शत-पत्र छेदन न्याय से सीधे मर्म को छूता है। हम लोग आज उस आर्ष परम्परा से दूर जा पड़े हैं जो आपके श्रद्धेय गुरुओं की थी—और जो आप जैसे कुछ बचे हुए विद्या व्यसनी साधकों की है।

आज का युग कमेटियों, मीटिंगों, संगोष्ठियों, सेमीनारों और संलापों का है। मिल-बैठकर बातें करना, गप्पें लगाना, परनिंदारस का आनन्द लेना—मीटिंग के बाद टी-ए, डी-ए बनाना, बिल फार्म्स भरना, पैसा कमाना और सरस्वती के वाहन पर बैठकर लक्ष्मी की उपासना करना। एकान्त साधना का युग समाप्त हुआ। आने वाली पीढ़ी को कम्प्यूटर पढ़ायेगा, टेलीविज़न ललित कलाएं सिखायेगा, कलक्यूलेटर बन्द नेत्रों से हिसाब-किताब सुझायेगा और अध्यापक कक्षा में इन सब साधनों की चर्चा से अपना वैदुष्य विद्यार्थियों को बतायेगा। इतना ही नहीं, यह सारा व्यापार को-आपरेटिव सोसाइटी के पैटर्न पर होगा। ज्ञान अर्थात् पांडित्य अपना कोर्ट (क्षेत्र) छोड़कर विज्ञान के कोर्ट में जा धमकेगा और वहां सब कुछ अर्थव्यवस्था से आंका जायेगा। भारतीय मनीषा ने ज्ञान के क्षेत्र में, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ उपार्जित किया था वह, इस तरह छोड़ दिया जायेगा, ऐसी क्या कभी आपने कल्पना की थी? हमारे नैतिक और साहित्यिक मूल्य इस तरह बदलेंगे और हम शेयर-बाजार के बीच खड़े होकर संपदा की ही बाज़ी लगा देंगे—क्या यह स्वप्न में भी संभव था। लेकिन आज जो कुछ हो रहा है वह किसी से छिपा नहीं है। आपकी पीढ़ी ने सरस्वती को आराधना और साहित्य को साधना माना, आज की पीढ़ी उसे क्या मान रही है यह मैं कहना नहीं चाहता। एक और विचित्र बात देखने में आ रही है। आधुनिकता-बोध के नाम पर कुछ नयी खोज हुई है जिसके द्वारा किसी पुरानी पोथी को न पढ़ना, मध्ययुगीन बोध से असम्पृक्त रहने के लिए किसी कवि की कृति का पाठ्यक्रम में न रखना, अतीत गौरव या राष्ट्रीयता के भाव को दकियानूसी रूढ़ि मानकर छोड़ देना, भारतीय साहित्य और संस्कृति में सड़ांध का अनुभव कर नाक बन्द करना, आधुनिक बनने का ऋजुमार्ग है। फलतः रासो, पदमावत, रामचरितमानस, सूरसागर, सतसई, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, उर्वशी आदि सभी काव्य ग्रंथ आधुनिकता-बोध के मार्ग में रोड़े हैं। ये ग्रंथ जिस परम्परा पर खड़े हैं वह जर्जर ही नहीं भ्रामक भी है अतः इनको छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। इनकी प्रासंगिकता की चर्चा करना ही पर्याप्त है। इस चर्चा में इन महाविद्वानों का ध्यान इस बात पर केन्द्रित रहता है कि जो ग्रंथ आज के प्रकृत संदर्भ में प्रयोज्य नहीं, वह अप्रासंगिक हैं, अतः अपठनीय हैं। यदि इन ग्रंथों के विषय में कुछ जानना अपरिहार्य प्रतीत हो तो इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उसका आकलन करना पर्याप्त होगा। पुस्तक को पाठ्य ग्रंथ की तरह पढ़ना अनावश्यक एवं रूढ़ परम्परा को ढोना है। मूल ग्रंथ को टैक्स्ट बनाकर पढ़ना-पढ़ाना तो सड़ी-गली सामन्ती मान्यताओं को प्रश्रय देना है।

इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए जो सीढ़ी तैयार की गई है वह आप लोगों के समय स्वप्न में भी सम्भव न थी। विद्यार्थी का कक्षा में आना अनिवार्य नहीं

है। उसकी उपस्थिति रजिस्टर में दर्ज करके उसे प्रत्येक पीरियड में रहने को बाध्य करना उसकी स्वतंत्रता को छीनना है जो कि उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। आज का विद्यार्थी प्रबुद्ध, स्वतंत्र चेता चिन्तक है। अध्यापक का भाषण और व्याख्या-टीका उसे नहीं चाहिए। वह स्वाध्याय द्वारा, स्वतंत्र चिन्तन-मनन द्वारा सब कुछ जानना चाहता है। आज अध्यापक उसे स्वाध्यायी बनाकर अपने आपको अध्यापन और भाषण से मुक्त कर लेता है। स्वाध्याय करने के लिए स्वतंत्र एवं उन्मुक्त चिन्तन के स्थान भी विश्वविद्यालयों के कॉफी-हाउस, टी-हाउस और रेस्टरां है। इनमें बैठकर निरन्तर स्वाध्याय का क्रम चलता है। 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' का ऐसा पाठ और ऐसा सुहावना ठौर आपके समय किसे सुलभ था ? सिगार और सिगरेट के साथ स्वाध्याय का जैसा सुन्दर सम्बन्ध इस पीढ़ी ने स्थापित किया है वह आपके लिए तो आज भी स्वप्न ही होगा।

देश के स्वतंत्र होने के बाद शिक्षा में जो परिवर्तन आया उसकी चर्चा न करना ही अच्छा है। आपने साठ वर्ष का दौर पूरा किया है। इस दौर में साहित्य और शिक्षा के मानदंड-मूल्य, पद्धति-प्रणाली सभी पर आपकी नज़र रही है अतः आपको मैं अधिक क्या बताऊं। इतनी बात भी मैंने आपके भाषण की ध्वनि से प्रेरित होकर कही है।

पत्र बहुत लंबा हो गया। भावोद्वेलन में यदि कुछ अप्रिय अथवा अप्रासंगिक लिख गया होऊं तो क्षमा करें। मैं आज की परिस्थितियों का मौन-मूक द्रष्टा हूं। पत्र में मुखर हो गया। यह साहस मेरे भीतर आपके लिखित वक्तव्य ने ही पैदा किया है।

अन्त में फिर एक बार आपकी कृपा के लिए हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहता हूं। आप पधारे, हम धन्य हुए। आपने हमारे प्रयास को सात्त्विक भाव से सराहा—स्वीकार किया, हम कृतार्थ हुए। इसी प्रकार आप हम पर अनुग्रह करते रहें, इस विश्वास के साथ पत्र समाप्त करता हूं। सादर,

आपका,
विजयेन्द्र स्नातक

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
वाणी-वितान, ब्रह्मनाल,
वाराणसी

जन भक्ति काव्य तथा शब्दार्थ विमर्श

संदर्भ

आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ मेरा पत्रव्यवहार रहता था किन्तु मैंने पत्रों का संकलन नहीं किया। जो दो पत्र यहां प्रकाशित हैं वे टंकित रूप में थे अतः सुरक्षित रह सके। सन् १९७५ के अक्तूबर मास में 'तीर्थंकर नैतिक शिक्षा इंस्टीट्यूट, नजीबाबाद' के तत्त्वावधान में एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ था। उसमें पंडित जी और मुझे भाषण के लिए निमंत्रित किया गया था। मैंने अपने भाषण में जैन धर्म और जैन भक्ति विषयक कई मुद्दे श्रोताओं के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किये थे। पंडित जी से बाद में पत्राचार भी हुआ जिसका संकेत इन पत्रों में है। इसी संदर्भ में पंडित जी का एक पत्र भी संलग्न है।

ए-५।३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
२६-१०-१९७५

आदरणीय पंडित जी,

सादर प्रणाम। मैं यह पत्र आपके निर्देशानुसार काशी के पते पर ही लिख रहा हूं क्योंकि यहां से जाते समय आपने लखनऊ रुकने का विचार छोड़ दिया था।

आपके सान्निध्य में दो दिन का नजीबाबादी प्रवास बड़ा सुखद रहा। मुझे यदि पहले से आपके आगमन की सूचना होती तो मैं भी २१ को ही नजीबाबाद पहुंच जाता और आपके साथ कोटद्वार जाने का आनन्द प्राप्त करता। आप चौबे जी के पास हो आये और उनसे मिल कर आपको जो आनन्द प्राप्त हुआ मैं उससे वंचित रहा। दरअसल डा० प्रेमचन्द ने मुझे सही सूचना नहीं दी थी। यदि मुझे आपके नजीबाबाद पहुंचने की ठीक तारीख मालूम होती तो अपना कार्यक्रम तदनुसार बनाता। खैर अगली बार इस भूल का सुधार कर लिया जायेगा।

मैंने अपने भाषण में महावीर स्वामी की पूजा की बात जानबूझ कर उठायी थी। मैंने आज से बीस वर्ष पूर्व आपकी पुस्तक 'अशोक के फूल' में पढ़ा था कि महावीर जी का पूजा-स्थान, स्वामी शब्द की जै-जैकार, किसी प्राचीन बौद्ध या जैन या मिश्र परम्परा से कोई सम्बन्ध रखते हैं। मैंने भाषण से पहले भी आपसे इस सम्बन्ध में चर्चा की थी। आज 'अशोक के फूल' के पृष्ठ पलट कर वह संदर्भ खोजा तो 'मेरी जन्मभूमि' शीर्षक निबंध में वह सारा प्रकरण मिल गया। आपने शंकालु होकर यह बात उठाई है कि "जिन स्थानों में महाबली हनुमान की मूर्ति नहीं है वरन् ऊपर-ऊपर सजाए हुए क्रम-ह्रस्व तीन चौकोर चबूतरों को ही महावीर जी कहते हैं। यह स्तूप बौद्ध स्तूपों की याद दिलाता है। हो सकता है परवर्ती काल में ये चैत्य या स्तूप हनुमान बन गये हों और फिर वहां हनुमान की मूर्ति भी प्रतिष्ठित कर दी गई हो।"

मैंने इसी कल्पना को आगे बढ़ाया था। जैन धर्म में मूर्तिपूजा का प्रारंभ कब हुआ यह तो अद्यावधि अनिर्णीत है फिर भी यह तो मानना ही होगा कि राम और कृष्ण की उपासना के आगे-पीछे ही जैन धर्म में मूर्तिपूजा का सूत्रपात हुआ होगा। अरिष्टनेमि के साथ श्री कृष्ण का मेल जिस रूप में जैन धर्म के कवियों ने किया उसके पीछे उनकी क्या मान्यता या धारणा थी इसका अनुसंधान करना होगा। जैन कवियों ने प्रद्युम्न चरित्र को बहुत महत्त्व दिया,

इसका क्या कारण है ? जैन कवियों की परम्परा की विशेषता यह है वे सब शास्त्रज्ञ, पंडित और धर्मप्राण व्यक्ति थे। हमारे संत कवि इसके ठीक उलटे न शास्त्रज्ञ, न पंडित। क्या कभी आपने जैन कवियों की इस शास्त्र-परायणता पर विचार किया है ?

वास्तव में मैंने अपने भाषण में जो समस्याएं उठाई थीं उनके पीछे शोध-दृष्टि को परिष्कृत और सर्वांगपूर्ण बनाने की मेरी स्पृहा थी। मैंने आपकी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' पढ़ी है। यों तो यह पुस्तक भाषणों का संकलन है किन्तु इसमें एकसूत्रता और प्रभावान्विति की कोई कमी नहीं है। आप आदिकालीन साहित्य को भक्ति, धर्म, उपासना, ज्ञान और उपदेश का समन्वित रूप मानते हैं। भक्ति के सम्बन्ध में आपने सांकेतिक रूप से ही अधिक कहा है। यदि जैन धर्म की भक्ति विषयक रचनाओं पर आप दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि उनमें भी भक्ति-तत्त्व की व्यापक, विस्तृत और बहुआयामी छाप है। जैन भक्ति ग्रंथों पर जो शोधकार्य हुआ है उसने इस तथ्य को भली भांति उजागर कर दिया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में जैन भक्ति-काव्य का अध्याय जोड़ना चाहिए। शताधिक रचनाओं से परिपूर्ण जैन भक्ति-काव्य, अध्यात्म और साहित्य दोनों का समन्वित रूप है।

मैंने अपने भाषण में जो मुद्दे उठाये थे उनकी ओर आपने अपने भाषण में श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट किया। मेरे भाषण की प्रशंसा द्वारा आपने मुझे जो गौरव दिया उसके लिए आजन्म आभारी रहूंगा। आपका और मेरा भाषण वहां के संयोजकों ने टेप कर लिया था। मेरे भाषण का कुछ अंश टेप नहीं हो सका था फिर भी चालीस मिनट का टेप है। आपका पूरा भाषण टेप में है। मुझे उन लोगों ने सुनाया था। मुझे आपने जो प्रमाणपत्र दिया वह मेरे लिए सबसे बड़ी उपाधि है। टेप किये भाषणों को वे लोग स्मारिका में छापने की योजना बना रहे हैं।

पुस्तक रूप में भाषणों के आ जाने पर उन्हें पढ़कर मैं पुनः इस सम्बन्ध में आपसे विचार-विमर्श करूंगा। चूंकि यह संदर्भ आपको पसन्द आया अतः इस पर अब कार्य होना चाहिए।

कृपा भाव बनाए रहें, मेरे योग्य काम लिखें। सादर

आपका
विजयेन्द्र स्नातक

पंडित श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी
रवीन्द्र पुरी, वाराणसी

ए-५।३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
२३-१२-१९७६

आदरणीय पंडित जी,

सादर प्रणाम। डा० प्रेमचन्द जैन ने गत वर्ष अक्तूबर मास में हुई त्रिदिवसीय संगोष्ठी का विवरण स्मारिका रूप में प्रकाशित करके मेरे पास भेजा है। आशा है यह स्मारिका आपके पास भी पहुंची होगी। मेरा भाषण तो अपूर्ण है किन्तु आपका समापन भाषण पूरा छपा है।

आपके मुद्रित भाषण को पढ़कर मुझे लगा कि जैन धर्म के विषय में मेरी और आपकी मान्यताओं में विलक्षण समानता है। जैन धर्मावलम्बियों की अहिंसा और परदुःखकातरता ने उन्हें इस देश में जिस शान्त वातावरण में सुखपूर्वक रहने दिया, उस स्निग्धभाव से बौद्ध मतावलम्बी भारत में आठवीं शताब्दी के बाद नहीं रह सके। किन्तु जैनियों के प्रति वैदिक मतावलम्बियों का सुहृद भाव रहा हो इसका साहित्य-साक्ष्य से समर्थन नहीं होता। ब्राह्मण धर्म में बौद्ध और जैन दोनों नास्तिक और वेद-निन्दक थे। 'हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्'—की भावना का प्रचार था फिर भी जैन धर्म इस देश के प्रत्येक प्रान्त में भीतर ही भीतर फैलता रहा। कर्नाटक, राजस्थान और उत्तर प्रदेश तो इसके गढ़ थे। जैन धर्म के उपदेशों का बहिष्कार न कर सकने के कारण ही शायद जैनियों का निष्कासन या पलायन नहीं हुआ और देश के विस्तृत भूभाग में वह पनपता रहा जबकि बौद्ध धर्म पलायन कर विदेशों में पहुंच गया। ऐसा क्यों हुआ—आपके समक्ष यह प्रश्न मैंने विचारार्थ रखा था। मेरे टेप किये भाषण में यह प्रश्न विस्तार से है। एक बार आप पुनः इस पर विचार करें। इतिहासकारों का समाधान संशोध्य है, स्वीकार्य नहीं।

अंधविश्वास शब्द पर मेरी टिप्पणी आपको पसन्द आई किन्तु वह तो यों ही अटकल पच्चू थी। मैंने परिहास के मूड में श्रोताओं के विनोद के लिए कहा था। आपने उसे सार्थक मान कर पकड़ लिया। कभी-कभी हास-परिहास में से वैसे ही कुछ काम की बात निकल आती है जैसे फटकन में से अच्छे दाने मिल जाते हैं। आपने तो बीसियों शब्दों का मूल खोजा है, उसका संस्कार किया है, उन्हें निर्वचन द्वारा सार्थक बनाया है। हिन्दू ज्योतिष का होरा शब्द अंग्रेजी Hour शब्द का समानार्थी है। कुटज के नाना अर्थों का आपने संधान किया है। देवदारु को आपने देवतरु कहा और छंद तथा अर्थ द्वारा शब्द का सामंजस्य किया। पोलाइट समाज में पोला अंश भी तो आपने देखा है। योरोप के खाना-

बदोशों के लिए रोम और रोमानी शब्दों का सम्बन्ध आपने भारत की डोम जाति से जोड़ा है और इतना ही नहीं, आपने तो रोमांस शब्द भी इसी से संयुक्त कर रोमांटिक साहित्य का मूल साहसिकता में खोज लिया। सास-बहू के मंदिर का तत्सम रूप सहस्रबाहु का मंदिर भी सही शोध है। लैटिन के Vicus शब्द को वंश और वैश्य या वैदिक काल की 'वानि' के साथ देखना और राजपूताना से उसका सम्बन्ध स्थापित करना भी रोचक है। शक द्वीप को सगडियाना, मैजिक शब्द में मगों का आभास पाना आपकी सूझ-बूझ का परिचायक है। शब्दों का इतिहास उनकी दीर्घकालीन यात्रा के साथ बहुत ही मनोरंजक प्रतीत होता है यह मैंने आपकी शब्द साधना में पाया।

मेरा जो भाषण टेप द्वारा 'स्मारिका' में छपा है उसका किसी ने सम्पादन नहीं किया फलत: भाषा में त्रुटियां रह गयी हैं किन्तु तथ्यांकन ठीक है। आपने भाषा पर ध्यान नहीं दिया यह अच्छा ही रहा। मेरा इस सेमिनार में जाना और भाषण करना सफल हुआ। आपके प्रोत्साहन से मैं धन्य हुआ। मेरे लिए तो यह विद्वान् अग्रज का आशीर्वाद है।

यदि ऐसे ही साहित्यिक समारोहों में आपसे भेंट होती रही तो मेरा मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहेगा। उसे उपयुक्त खुराक मिलती रहेगी। आपकी कृपा के लिए हृदय से अनुगृहीत हूं।

कृपा भाव बनाए रहें। सादर,

आपका,
विजयेन्द्र स्नातक

श्री पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

रवीन्द्र पुरी, वाराणसी
३०-१२-७६

प्रिय भाई स्नातक जी,

आपका पत्र मिला। मेरा स्वास्थ्य इन दिनों ठीक नहीं है। अस्वस्थ होने पर जो काम छोड़ना पड़ता है वह लिखना-पढ़ना ही है। आपके पत्र में अनेक बातें हैं जिन पर चर्चा हो सकती है किन्तु अभी नहीं, फिर कभी मिलने पर बातें होंगी। जैन भक्ति-काव्य पर आप काम करें। गत वर्ष नजीबाबाद में आपका भाषण सुनकर मैंने यह निष्कर्ष निकाला था और उस सभा में सार्वजनिक रूप से आपसे अनुरोध किया था।

आपने मेरी शब्द-साधना का अपने पत्र में उल्लेख किया है। शब्दों में बड़ी विलक्षण जीवन्त शक्ति होती है। महाभाष्यकार ने सम्यक् प्रयुक्त शब्द को

स्वगलोक में समस्त कामनाओं की पूर्ति का साधक कहा है। 'वाक्य पदीय' में शब्द महिमा पढ़कर मन पर शब्द का आतंक छा जाता है। वैयाकरणों की दृष्टि से तो शब्द ब्रह्म ही है। शब्द प्रयोग में अर्द्धमात्रा का लाघव पुत्रोत्सव सदृश सुख का जनक है। यदि शब्दों की पूरी यात्रा का पता लग सके तो सुर और असुर का द्वन्द्व ही समाप्त हो जाय। कुश काटने वाले घसियारे की कुशलता राज्य संचालन में काम करती दीखती है। बड़ा विचित्र खेल है जो शब्द द्वारा ही सम्पन्न होता है फिर भी शब्द बेचारा मौन है। शब्दों में जातीय चरित्र भी रहता है, सभ्यता और संस्कृति भी पलती है। मनुष्य के दुःख-दर्द की ध्वनि गूंजती है। यदि विश्व की सभी प्राचीन भाषाओं के शब्द समूहों का तुलनात्मक एवं विकासात्मक अध्ययन किया जाय तो अधिसंख्य शब्दों में अत्यधिक साम्य एवं पारस्परिक घनिष्ठता लक्षित होगी। इस शब्दसाम्य में सांस्कृतिक ऐक्य के सूत्र भी ढूंढ़े जा सकते हैं। साहित्य में, जो शब्दों का समन्वित रूप है, मनुष्य एक और अखंड है; राष्ट्र और देश में वह विभाजित-खंडित है। मैंने अपने कई लेखों में शब्द-साधना पर विचार व्यक्त किये हैं। मैं निरन्तर इस दिशा में सोचता रहता हूं।

आयुष्मान डा० प्रेमचन्द ने 'स्मारिका' की प्रति मेरे पास भी भेजी है। मैं इसके पन्ने पलट गया हूं। आपका भाषण देखा। भाषण का प्रारम्भिक अंश इसमें नहीं है। शायद उस समय टेप रिकार्डर नहीं लगाया होगा। अब आप उसे पूरा लिख डालिए। जैन भक्ति-काव्य का वह अंश साहित्य के इतिहास में आना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य की भूमिका में तो केवल नामोल्लेख किया था। हिन्दी साहित्य के आदि काल में इस विषय की चर्चा है किन्तु क्रमपूर्वक इतिहास नहीं लिखा। आपके भाषण को सुनने के बाद मैं जैन भक्ति-काव्य के योगदान को उल्लेख्य मानता हूं।

'स्मारिका' में मेरा समापन भाषण छाप है। उसमें भी मैंने आपके भाषण की चर्चा की है और अनुसंधान की दिशा में इसे एक प्रशंसनीय कदम ठहराया है। मेरा अनुरोध है कि आप जैन भक्ति-काव्य के इस समूचे संदर्भ को तैयार करें और प्रकाशित करा दें। 'स्मारिका' के पृष्ठ १२२-१२३ पर मैंने इसकी ओर श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट किया है। मैं उसकी प्रतिलिपि करवा कर आपके लिए भेज रहा हूं।

आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न हैं। शर्करा से बचें और अंगूर की बेल के तीन पत्ते प्रातः-सायं अवश्य लें। सस्नेह,

आपका,
हजारीप्रसाद द्विवेदी

पुनश्च—'स्मारिका' का अंश प्रेषित है।

"आनन्द जो आज हमें आया है वह स्नातक जी के भाषण में ही। इतने गम्भीर विषय का उन्होंने विवेचन किया है, हर पहलू पर दृष्टि डाली है। आज उनका विद्वत्तापूर्ण भाषण सुनकर हमने और मैं समझता हूं मेरी तरह आप सभी लोगों ने यह अनुभब किया होगा कि ऐसा विद्वत्तापूर्ण, हर पहलू को स्पष्ट करने वाला, अनेक समस्याओं को जगाने वाला, प्रेरणा देने वाला व्याख्यान बहुत कम सुनने को मिलता है। × × × इस सम्बन्ध में मैंने सोच लिया था कि उनका भाषण समाप्त होते-होते ही कि इस पर कुछ और कह कर मैं इस भाषण के प्रभाव को नष्ट नहीं होने दूंगा। सचमुच यह एक सारगर्भित भाषण था। मैं अपनी ओर से और आप सभी लोगों की ओर से अपने मित्र डा० स्नातक का आभार प्रकट करता हूं कि उन्होंने इस विषय पर इतना गंभीर विचार-विमर्श किया। वैसे तो हम बहुत पुराने साथी हैं लेकिन व्याख्यान सुनने का मौका कम ही मिलता है, घरेलू बातें हम ज्यादा करते हैं।" ('स्मारिका' के पृष्ठ १२२-१२३ से उद्धृत)

'अन्तःस्रोता' कविता की प्रतिक्रिया

संदर्भ

श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल की एक कविता 'अन्तःस्रोता' शीर्षक से दिल्ली से प्रकाशित होने वाले त्रैमासिक 'सर्वहिताय' में छपी थी। कविता को पढ़कर कवि की भावनाओं के साथ मेरा तादात्म्य सहज ही हो गया और मैंने तत्काल अपना पत्र कविता शैली में अंचल जी को लिख भेजा। हम दोनों समवयस्क हैं। सेवा-निवृत्त, किन्तु घर-गृहस्थी में संघर्षरत जीवन यापन करने वाले। 'सर्व-हिताय' के सम्पादक ने अंचल जी को 'ज्योतिवाही' कवि के नाम से अभिहित किया है। मैंने ज्योतिवाही कवि से ही ज्योति की किरण का पता पूछा है, मैं कविता नहीं लिखता किन्तु कवि अंचल की कविता से प्रभावित होकर मैंने पद्यात्मक पत्र लिख डाला, यह एक सहज प्रतिक्रिया ही है।

अन्त:स्रोता :

ए-५।३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
२-३-८०

प्रिय अंचल जी,

बहुत दिनों के बाद अचानक हाथ पड़ गई,
कविता एक तुम्हारी मेरे।
मैंने पाया भाव वहीं हैं बिल्कुल मेरे,
जो मानस को मथते रहते, साँझ-सवेरे।
ऐसा क्यों है ? प्रौढ़ आयु का चिन्तन है यह,
अथवा हैं ये भव-बंधन के शाश्वत फेरे।
जिनमें फँस कर, उठकर, गिरकर,
नहीं सम्भल पाया हूँ अब तक,
इस चक्की में पिसते-पिसते।
सुख, दुख, दैन्य, द्वन्द्वरत रहकर
छासठ बरस वयस के बीते
नहीं चेतना मुक्त हो सकी, रोग-शोक की व्यथा-कथा से
सुख, सन्तोष, शान्ति, सुषमा से घट हैं रीते।

× × ×

वही जो रक्त रंजित आस्था तुमने सहेजी है
नहीं मुझसे सम्भाली जा रही,
है छल रही मुझको,
प्रताड़ित और पीड़ित कर, व्रणों में वेदना भर कर,
विघूर्णित भाव से, उत्ताप से है खल रही मुझ को।
बताओ क्या करूँ, अब प्रौढ़ि पर पहुँचा हुआ हूँ मैं,
अनास्था से जिऊँ ? या आस्था का भार ढो-ढोकर,
दिलासा दूँ थके हारे हुए मन को,
कि वह चैतन्य से भर कर,
नये प्रतिमान जीवन के, नये संदेश यौवन के,
सजग होकर संजो ले औ'
समाहित चित्त से इस वज्र पीड़ा को,
सहन की क्रोड़ में भर ले।

"थके संताप चिन्ता-दाह से इस जीव को मेरे"
तुम्हारे स्नेह शबलित शब्द की कुछ सांत्वना देंगे ।
नहीं मैं प्रार्थना करता, किसी भी सर्वव्यापी शक्तिमत्ता से,
नहीं मैं माँगता हूँ,
आयु का वरदान ईश्वर या महेश्वर से,
मुझे संघर्ष के इस द्वन्द्व में साहस मिलेगा तो—
मिलेगा यह जहाँ से आस्था का सत्व गुण उद्बुद्ध होता है
पढ़ा है उपनिषद् में,
"चेतना कर ऊर्ध्व रोहण अन्न से आनन्दमय तक
हो तभी पाता, विलय होता स्व का जब,
दलित द्राक्षा की तरह निःशेष होने में ।"
नहीं निःशेष हो पाया,
अभी लोकैषणा का दंश बाकी है
अभी संयम-नियम की रेख के भीतर
बँधा मैं छटपटाता हूँ ।
कभी नेपथ्य से आती हुई जिस गूँज की अनुगूँज सुनता हूँ
वही कहती—
"नहीं विश्राम है चिन्ता-जड़ित इन दग्ध प्राणों को ।"
बताओ ज्योतिवाही तुम !
कहाँ किस लोक में, किस ज्योति का आलोक पाऊँगा ?
कटेंगे कब सकल बंधन ?
मिलेगी सुखद-शीतल शान्ति प्राणों को ?
अनावृत कर सकूँगा क्या कभी मैं सत्य के घट को ?
(हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्)
कभी क्या समझ पाऊँगा गहन संसार के विष को ?
(न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः)
कभी सुलझा सकूँगा कर्म और अकर्म की उलझन ?
(किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः)
द्विधा संत्रस्त मैं, सहमा हुआ हूँ,
नियामक हूँ नहीं अपना,
न निर्णायक नियति का हूँ,
बताओ क्या करूँ मैं, साधना मेरी अधूरी है,
चुका है दर्प पौरुष का—अवास्तव आचरण का
यह विकट अभिनय करूँ मैं क्यों ?

सत्य ही मुझको नहीं है, मृत्यु का भय
मर्त्य नर का भाग्य है यह—
वेदना पीड़ा, व्यथा का भार सहकर
पावक, पवन, आकाश, जल औ' तेज लेकर,
जन्म भर चलता रहे।
अन्त में विश्राम की यह लालसा कैसी !
छल रही मन को विकल कर,
कब समाहित चित्त होगा ?
कामना की वर्तिकाएँ कब बुझेंगी ?
कब मिलेगा प्रश्न का उत्तर ?
नहीं—इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।
यह चिरन्तन प्रश्न ज्यों का त्यों रहेगा
कर सकेगा कौन इसका तत्त्व निर्णय,
यह पराभव की निपट अंधी गली है
कौन इसमें पा सका चिर शान्ति निर्भय !

सस्नेह
विजयेन्द्र स्नातक

श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल की 'अन्तःस्रोता' शीर्षक कविता को पढ़कर तात्कालिक प्रतिक्रिया ज्योतिवाही कवि अंचल जी से क्षमा-याचना सहित।

द्वितीय खण्ड

(व्यक्तिगत पत्र)

साहस, धैर्य और तितिक्षा के निकष

संदर्भ

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के वरिष्ठ रीडर डाक्टर ओम्प्रकाश ३ अप्रैल सन् १९७९ को एक भयंकर सड़क-दुर्घटना में आहत हो गये। वह अपने मित्र श्री राजेश्वर प्रसाद महेश्वरी के साथ उनके स्कूटर के पिलियन पर बैठकर रिंग रोड से घर आ रहे थे। राजघाट के समीप पीछे से आ रही बस ने उन्हें टक्कर दी और उनके दोनों पैर बस के पहिए के नीचे आ गये। स्कूटर सवार महेश्वरी दूर जा पड़े और चोट खाकर बेहोश हो गये। आश्चर्य की बात यह थी कि बायां पैर कुचल जाने और कई किलो खून निकल जाने पर भी ओम्प्रकाश जी न तो बेहोश हुए और न विचलित ही। उन्होंने बस-यात्रियों को नीचे उतर कर बस को ऊपर उठाने का निर्देश किया और अपना कुचला हुआ पैर बस के पहिए के नीचे से निकलवाया। दूसरा क्षतिग्रस्त पैर भी बस को गियर में डलवाकर बाहर किया। इस सारी प्रक्रिया में उनका धैर्य, साहस और प्रत्युत्पन्नमतित्व सबके लिए विस्मय-जनक था। ओम्प्रकाश जी अस्पताल पहुंचने पर भी बेहोश नहीं हुए, वरन् सबको धैर्य बंधाते रहे। तीन महीने उन्हें अस्पताल में रहना पड़ा। उनका पैर काटा गया। बैसाखी का प्रबन्ध किया गया किन्तु उनके चेहरे पर चिंता-व्यथा की शिकन कभी किसी ने नहीं देखी। इस विलक्षण मनोबल से प्रभावित होकर ही मैंने उन्हें यह पत्र लिखा था।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
६-६-७९

प्रिय भाई ओम्प्रकाश जी,

सप्रेम नमस्ते। पूरा एक सप्ताह बीत गया, आपके पास नहीं आ सका। आने की इच्छा निरन्तर बनी रही, कार्यक्रम बनाया भी, लेकिन अस्पताल तक नहीं पहुंच सका। घर में मेहमानों का जमघट था। एक के बाद एक पार्टी आती-जाती रही और मैं उनके स्वागत-सत्कार में फँसा रहा। इतना विलम्ब हो जाने से मेरा मन भीतर ही भीतर अपराध-भावना से भर गया है। आज प्रातःकाल से ही टेलीफोन पर सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश में लगा हूं; आपके फोन की घंटी तो बार-बार बजती रही किन्तु रिसीवर किसी ने उठाया नहीं। निराश होकर कागज-कलम का सहारा लेना पड़ रहा है।

आपके सड़क-दुर्घटनाग्रस्त होने के बाद से ही मैं इस भयंकर दुर्घटना और आपके विषय में बराबर सोचता रहा हूं। कभी दुर्घटना की विकरालता पर ध्यान जाता है तो कभी आपके विलक्षण धैर्य, साहस और मनोबल पर विस्मय-विमुग्ध होकर चकित, स्तब्ध और अवाक् रह जाता हूं। मन को समझाने के हजार बहाने हैं; दैवदुर्विपाक और नियति तो सामान्य सा आश्रय है किन्तु विधि-विधान के नाम पर किसी निरीह और निरपराध व्यक्ति का चयन कहां की ईश्वरता है? किन्तु आपको उसी ईश्वर ने धैर्य और संयम के साथ जो प्रत्युत्पन्नमति दी, वही प्राणरक्षा में सहायक हुई; अन्यथा इसी दुर्घटना में नियति-प्रकोप भीषण भी हो सकता था। आपकी आस्तिक आस्था ने एक ओर आपके मनोबल को सदा ऊंचा बनाए रखा तो दूसरी ओर आपके मित्रों, परिजनों और हितैषियों को भी इस वज्राघात को शान्त चित्त हो सहन करने की शक्ति दी। आपके सभी बंधु-बांधव, कुटुम्बी, मित्र और शुभचिन्तक इस दारुण प्रहार को अपने बल पर नहीं—आपके अविचल धैर्य, अपार साहस और अद्भुत मनोबल के सहारे ही सहने में समर्थ हुए हैं। दुर्घटना के प्रथम क्षण से लेकर आज तक आपने जिस सहन-शक्ति का परिचय दिया है वह मेरे जैसे दुर्बल व्यक्ति के लिए तो बेमिसाल है। मैंने विषाद-योग के विषय में तो पुस्तकों में पढ़ा था किन्तु प्रसाद-योग भी होता है यह आपके साहसी और संयमी जीवन में पूरी तरह चरितार्थ होते पाया। जिस विपत्ति का आपने दृढ़ता, तितिक्षा और साहस के साथ सामना किया है वह आपकी आस्था और जिजीविषा का सुन्दर निदर्शन है। मैं इसे प्रसाद-योग ही कहना चाहूंगा। भीरु और दुर्बल

व्यक्ति को विपत्ति भयभीत करके भीतर ही भीतर भस्म कर देती है, यही उसकी तुच्छता का प्रमाण है परन्तु सिन्धु के समान विशाल तरंगों वाले महाप्राण व्यक्ति विपत्तियों में और अधिक तरंगायित होते हैं—'शोषित सरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः'—प्रचंड निदाघ से तुच्छ सरोवर सूखते हैं, अगाध समुद्र तो बढ़ता ही रहता है।

आपके सामने पुस्तक-पढ़ी, किताबी विद्या की बात करना व्यर्थ है। आप स्वयं ज्ञानी, विवेकी और विद्वान् हैं। आपने इस संकट को सहज रूप में झेलकर-भोगकर दूसरों को मुसकराना सिखाया है। आपके समान, संकट के समय, शान्त चित्त बने रहना ही स्थितप्रज्ञता है। गीता में स्थितप्रज्ञ की चाहे जो परिभाषा की गई हो लेकिन उसे साकार होते तो मैंने पहली बार आपमें देखा है।

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

सर्व दुःखों में प्रसाद, और प्रसन्नचित्तता कोई खेल नहीं है। जो इसे बनाए रखते हैं, वे धन्य हैं, वे आदर्श हैं, वे अनुकरणीय हैं—वे सचमुच प्रणम्य हैं।

तुलसीदास ने विपत्ति के साथियों की गणना अपने एक दोहे में की है। मैंने देखा कि आपके पास वे सब असमय के (संकट के) सखा बिना बुलाए आ गए थे। उनके साथ रहने से आप स्वयं तो आश्वस्त थे ही, अपने मित्रों और हितचिन्तकों को भी ढाढ़स बंधा रहे थे।

तुलसी असमय के सखा, धीरज, धरम, विवेक।
साहित साहस, सत्यव्रत, रामभरोसो एक॥

संकट से उबारने की शक्ति किसी दूसरे के पास नहीं—स्वयं अपने भीतर ही होती है और वही विपत्ति से उबारती है, यह भी मैंने आपमें ही देखा—

स्वधैर्यादृते न कश्चिदभ्युद्धरति संकटात्।

धीर पुरुष की विजय यात्रा के साथी धैर्य, साहस और मनोबल ही हैं। और ये तीनों आपके पास अपनी पूरी सैन्य शक्ति के साथ मौजूद रहे हैं और आज भी आपकी पीठ थपथपा रहे हैं। कालिदास ने आप जैसे महाप्राण व्यक्तियों को ही धीर कहा है—"विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

कभी-कभी एकांत में बैठकर इस दुर्घटना की भीषणता और दुखद परिणाम पर सोचने लगता हूं तो आपकी एक लौह-प्रतिमा मेरे मानस में उभरती है जिसके आनन पर ओज और तेज के साथ मोहक मुसकराहट है। वह कौन सी दैवी शक्ति है जो अपनी ऊर्जा से आपके पैरों में गति का स्पन्दन भरती है, वह कौन सी प्रेरणा है जो इस विपद-सागर को अजाखुर की भांति तर जाने की हिम्मत बंधाती है! तब मुझे संस्कृत की एक सूक्ति का स्मरण हो आता है—

धीरास्तरन्ति विपदं नहि दीनचित्ताः।

निश्चय ही आप सच्चे धीरपुरुष हैं। जो धैर्य रूपी कस्तूरी और साहस रूपी चन्दन से निर्मित होगा वह संकट की चोट पड़ने पर सुवास ही तो देगा।

यह तो मैं भी जानता हूं कि इस प्रकार की अप्रत्याशित विपदाओं का आ जाना किसी मर्यादा या निमित्त से नहीं होता। "नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम्।" किन्तु मन के भीतर बैठा संशयालु अवचेतन इस ऊहापोह में अवश्य रहता है कि क्या दुःख यों ही बैठे-बिठाए मिलने वाला पदार्थ है। नहीं, दुःख कौन मांगता है, यह तो अनाहूत अतिथि है, फिर इसका स्वागत क्यों किया जाय! इसे सहर्ष क्यों स्वीकारा जाय! लेकिन तुलसी बाबा ने इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट शब्दों में दिया है। वे कहते हैं आपत्काल में चार की परीक्षा होती है; "धीरज, धरम, मित्र अरु नारी, आपत काल परखिए चारी।" यदि हम आपत्काल को अनाहूत मानकर उसका सामना धैर्यपूर्वक नहीं करेंगे तो, विपदा हम पर सवार होकर हमें त्रस्त ही नहीं करेगी वरन् हतप्रभ, तेजोहीन तथा पुरुषार्थहीन बना देगी—

यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिद्धति॥

विपत्ति के समय विक्रम को जगाना चाहिए। विपत्ति तो पुरुषार्थ की परीक्षा का निकष है। मुझे बेहद खुशी है, इस निकष पर आप सोलह आने खरे उतरे हैं। आपने विपत्तिजन्य विषाद को चुनौती देकर भगाया है।

भागवत पुराण में पढ़ा था कि कुन्ती ने श्रीकृष्ण से एक बार दुःख का वरदान मांगा था। उसे वरदान मांगने की आवश्यकता क्यों हुई यह तो मैं नहीं जानता किन्तु इतना कह सकता हूं कि दुःख मनुष्य के धैर्य, ज्ञान, विवेक, साहस और मनोबल की परीक्षा की कसौटी है। भागवत पुराण में तो कुन्ती भगवत्स्मरण के लिए दुःख मांगती है। हो सकता है कुन्ती अपने को इस कसौटी पर कसना चाहती हो। अथवा वह यह देखना चाहती हो कि दुःख की घड़ियों में संयम और धैर्य का संबल वह सम्भाल पाती है या नहीं। कुन्ती ने कृष्ण से कहा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत भवेऽस्मिन् भो जगद्गुरो।

कुन्ती को विपत्तियों के बीच जीना पड़ा। उसके पुत्र राज्याधिकारी होते हुए भी बारह बरस वनवास और एक बरस अज्ञातवास में रहे। कुन्ती एकाकी दुःखों से लड़ती रही, उन्हें झेलती रही। कुन्ती ने शायद इसी दुःख को आगत मानकर दुःख का वरदान मांगा हो।

संसार में अघटनीय भी घटता है। इस अघटनीय के लिए कोई तर्क, कोई संगति, कोई कारण नहीं होता। लेकिन ऐसे अघटनीय के घट जाने पर कातर और विषण्ण न होना ही पुरुष की सच्ची पुरुषार्थता है। विधाता ने आपको यह सम्पत्ति प्रचुर मात्रा में देकर पुरुषार्थ से समृद्ध बनाया है। सुख तो बिजली

की कौंध के समान क्षणिक है—दुख की काली मेघमाला सदा आकाश में छायी रहती है। 'सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः' इस बोध को सहेजते हुए यदि हम संसार-यात्रा में चलें तो दुःख पर विजय पाने की शक्ति हमारे भीतर स्वयं स्फूर्त होगी। 'ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम' इसीलिए है कि मुसीबतों पर वह हँसना सिखाती है। 'ज्ञानी काटे ज्ञान से, मूरख काटे रोय'—वाली कहावत भी इसीलिए प्रचलित हुई होगी।

पिछले दो महीनों में आपके महान् कष्ट को मैंने देखा—किन्तु कष्ट-सहिष्णुता और तितिक्षा को आपके विचार और व्यवहार में मूर्तिमन्त देखकर मैं स्तब्ध रह गया हूं। जिस तरह अपना कष्ट भूलकर और स्वयं हंसकर आपने दूसरों को हँसना सिखाया है वह कवि की एक कविता-पंक्ति को सार्थक बना देता है: 'दुःख सबको मांजता है।' कहना न होगा कि आपके दुःख ने आपको तो मांजा और कुन्दन बनाया ही है हम सब पर भी सोने का पानी फेर कर दुःख की घड़ी में दीप्तिमय रहना सिखाया है।

मैं नहीं समझ पा रहा हूं कि आपको इस पत्र में कुछ उत्साहवर्द्धक बातें लिखूं या कुछ ऐसे व्यक्तियों का हवाला दूं जो कष्ट और बाधाओं की विशाल श्रृंखलाओं को सीढ़ी बनाकर जीवन-यात्रा में कीर्तिमान स्थापित कर गए हैं। आप कहेंगे, पत्र में बच्चों की सी उपदेश की बातें मैं क्यों लिख रहा हूं। वास्तव में, मैं उपदेश की भूमिका में न उतरकर सामान्य बातचीत के स्तर पर ही यह सब लिखने बैठ गया हूं। कभी-कभी मन करता है कि उन व्यक्तियों का स्मरण किया जाए जिन्होंने आपकी तरह, सर्वथा अप्रत्याशित रूप से, दुर्घटना-ग्रस्त होकर भी, आनन्द और उल्लास के साथ सार्थक जीवन जिया। अपने जीवन से दूसरों को प्रकाश दिया।

मैं आपके घर में ही आपकी बेटी चारु को शैशव से देखता आ रहा हूं। वह कष्ट झेलने में अपनी उपमा आप ही है। उसने एक क्षण को भी यह नहीं माना कि उसके पैर की दुर्बलता किसी प्रकार भी उसके विकास या उन्नति के मार्ग का अवरोध है। आठ-दस बार की शल्य-चिकित्सा को उस छोटी बच्ची ने जिस साहस के साथ झेला है वह उसकी पीठ ठोकने के लिए पर्याप्त है। मुझे श्रीमती कैलाश ने बताया था कि आपके दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर चारु ने दुःखी होकर, कातर या उद्विग्न भाव से आंसू नहीं बहाये; वरन् आपको प्रबोधते हुए उसने कहा था कि "पापा, आपको इस दुर्घटना से विचलित नहीं होना चाहिए। आपके शरीर में जो सबसे कम उपयोगी अंग (पैर) है वही क्षतिग्रस्त हुआ है। आपका मस्तिष्क, मन, बुद्धि, हृदय, उदर, आंख, नाक, कान, सब सही-सलामत हैं। आप पहले की तरह बोल सकेंगे, लिख-पढ़ सकेंगे, पढ़ा सकेंगे, सारे क्रियाकलाप पूर्ववत् कर सकेंगे और कृत्रिम पैर लगने पर चल-फिर सकेंगे।

आपकी गति में कहीं कोई अवरोध नहीं होगा। फिर आप पैर के क्षतिग्रस्त होने की चिन्ता क्यों करें!" चारु की यह प्रौढ़ बुद्धि उसके अपने सहे और भोगे हुए दुःख की उपज है। मैं तो चारु का ऐसा विवेकपूर्ण चिन्तन और विश्लेषण सुनकर चकित रह गया। शायद तितिक्षा और साहस का यह संस्कार उसे अपने पापा से ही मिला हो जैसे अभिमन्यु को चक्रव्यूह में घुसने और उसे छिन्न-भिन्न करने का संस्कार अर्जुन से मिला था।

बालिका चारु ने आपसे जो कहा वह किसी दर्शन-ग्रंथ को पढ़कर नहीं कहा। अपने छोटे से जीवन में उसने जो अनुभव किया वही सहज ढंग से आपसे कह दिया। मैं इसे बालिका का दिव्योपदेश मानता हूं। संतों के पास जैसे स्वानुभव ही प्रमाण होता है वैसे ही चारु की निर्मल स्वानुभूति ही यह प्रबोधवचन है। पवित्र निर्झर स्रोत की भांति निरन्तर गतिशील रहना, विषम स्थितियों में भी मुसकराना, जीवन के यथार्थ को सहर्ष स्वीकार करना ही जीवन की कृतकार्यता है। यह जीवन-दर्शन चारु को भली भांति विदित है। यह उसके पैतृक संस्कार की देन है।

चारु ने जीवन में संघर्ष को वरदान के रूप में स्वीकार किया और जीवट के साथ वह निरन्तर आगे बढ़ती रही। आज वह मेडिकल कालेज में अन्तिम वर्ष में पढ़ रही है, कल डाक्टर बनेगी और दीन-दुखियों का दुःख-दर्द दूर करने में समर्थ होगी।

सच कहता हूं, आपको देखकर कभी-कभी ईर्ष्या भी जगती है। जैसा बेहिसाब धैर्य और साहस आपके पास है, मुझमें क्यों नहीं है! मैं क्यों कायर और भीरु हूं? शायद प्रकृति बड़ी कृपण है, वह सबको आप जैसा सात्त्विक धैर्य नहीं देती। जीवन-यापन भी एक कला है जो महापुरुषों के जीवन के प्रेरक प्रसंगों द्वारा कुछ-कुछ समझी जा सकती है। शारीरिक स्तर पर कुछ कमी होने पर भी ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने मानसिक स्तर पर उस न्यूनता का कभी अनुभव ही नहीं किया। बायरन, वाल्टर, मिल्टन, जायसी, सूरदास आदि ने कभी यह जाना ही नहीं कि उनके शरीर में कहीं कोई अभाव या न्यूनता है। टेनसी राज्य की लंगड़ी बालिका विल्मा गोल्डीन रूडाल्फ ने सन् १९६० के ओलम्पिक खेलों में तीन स्वर्ण-पदक प्राप्त किए थे। प्रख्यात वैज्ञानिक स्टीफेन हाकिन ह्वीलचेयर से चलते हैं, बोलते भी कठिनाई से हैं किन्तु उन्हें इन अभावों का स्वप्न में भी ज्ञान नहीं है। आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त को उन्होंने आगे बढ़ाया और नवीन सिद्धान्तों की खोज की है। जैक ऐशले बधिर थे, उन्होंने ओष्ठों से पढ़ना सीख कर पार्लियामेंट में गूंगों-बहरों के हितों की ज़बरदस्त वकालत की थी। सुप्रसिद्ध संगीत वादक सम्राट् वीथोवन तो नितान्त बधिर थे। न उन्हें अपनी वादन-ध्वनि सुनाई देती थी और न प्रशस्ति

की करतल-ध्वनि ही वे सुन पाते थे, किन्तु जीवन भर बाजे बजाते हुए प्रसन्न मुद्रा से संसार-यात्रा निभा गए। हेलन केलन तो गूंगी-बहरी ही नहीं अंधी भी है किन्तु उसने अंधों और बधिरों के उद्धार के लिए जो किया है वह विश्वविदित है। दरअसल, इस प्रकार के महापुरुष यही अनुभव करते रहे कि जो कुछ भी हो चुका है उसे विधि-विधान मानकर सहर्ष स्वीकार करना विपत्ति के परिणाम पर विजय प्राप्ति की दिशा में पहला कदम है।

पत्र लम्बा होता जा रहा है और कुछ उपदेश की सी गंध भी इसमें आने लगी है। मैं फिर दुहरा दूं—मेरा पत्र उपदेश या प्रवचन कतई नहीं है। यह आपकी दुर्घटना को लेकर दो मित्रों का संलाप-संवाद है। आप जैसे धैर्यशाली और विवेकी मित्र को पाकर मैं अपने को धन्य मानता हूं, इसलिए इतना साहस भी कर बैठा हूं कि जो मन में आया उसे दो घंटे बैठकर कागज़ पर उतार दिया।

आपकी इस दुर्घटना से मैंने जाना कि विवेकशील व्यक्ति के लिए विपत्ति कोई समस्या नहीं होती। विपदा से जूझना, स्थिर चित्त रहना ही संकट का समाधान है, पलायन हर्गिज़ नहीं। वेदना सीमातीत होने पर कैसे औषधि बनती है यह भी मैंने इसी प्रसंग से जाना। मैंने इन दो महीनों में आपके चेहरे पर स्मिति की जैसी दीप्ति देखी है वैसी पहले नहीं देखी थी। मैं आपके कष्ट की कल्पना से डरकर जब-जब आपके पास गया आपको वेदनाहीन, प्रसन्नमुख मुसकराते पाया। क्या यह जीवन यात्रा की सफलता का रहस्य नहीं है ?

क्षमा करें, मन में अभी बहुत कुछ है किन्तु पत्र बहुत लम्बा होता जा रहा है, अतः बन्द करता हूं। सस्नेह,

आपका
विजयेन्द्र स्नातक

डा० ओम्प्रकाश
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

मानव मन के शत्रु—मित्र, ईर्ष्या, द्वेष और मात्सर्य

संदर्भ

श्री भवानीप्रसाद मिश्र को सम्बोधित यह पत्र एक बहुत छोटी-सी घटना से सम्बद्ध है। बात सर्वथा उपेक्षणीय और भूल जाने लायक है किन्तु मैं भूल नहीं सका और मैंने अपनी प्रतिक्रिया भावावेश में भवानी भाई को लिख भेजी।

भवानी भाई को एक सभा में भाषण करने जाना था किन्तु वे सहसा अस्वस्थ हो गये। बिस्तर से उठने-बैठने की स्थिति में भी वे नहीं थे अतः मुझसे अनुरोध किया कि मैं उस सभा में भाषण देने चला जाऊं, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। किन्तु जो व्यक्ति सभा-प्रबन्धक था वह जब मुझे निमंत्रित करने नहीं आया तो मैं सभा में नहीं गया। बाद में भवानी भाई से ही मुझे मालूम हुआ कि वक्ता के रूप में मुझे आमंत्रित करने का कहीं से तीव्र विरोध हुआ था और यह अच्छा ही हुआ कि मैं स्वयं उस सभा में नहीं गया। जिस आभ्यन्तर प्रेरणा ने मुझे जाने से रोका था वह अन्तःकरण की सही प्रवृत्ति थी। सारी घटना का पता मुझे बारह दिन बाद भवानी भाई से ही लगा। उसे सुनकर मन क्षुब्ध हो गया और मैंने तत्काल भवानी भाई को पत्र द्वारा अपनी प्रतिक्रिया सम्प्रेषित कर दी। इसमें मूलतः ईर्ष्या, मात्सर्य और स्पर्धा जैसे मनोविकारों पर ही मेरी टिप्पणी है। किसी व्यक्ति विशेष से कोई शिकवा-शिकायत नहीं।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
१७-८-७६

आदरणीय भवानी भाई,

आज दोपहर आपसे फोन पर बात करके मन कुछ उद्विग्न सा हो गया। मुझे ऐसा लगा कि आप मुझसे जिस संदर्भ में माफी मांग रहे थे उसमें आपका रंच मात्र भी दोष नहीं है। फिर भी आपके सौजन्य ने मुझे स्नेह और आदर देकर माफी मांगने को बाध्य किया। आपका स्नेह मुझे सहज प्राप्त है, मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूं। आपको मैं सदा अग्रज का आदर देता रहा हूं इसलिए अकारण आपके माफी मांगने की बात मुझे जंची नहीं। यदि माफी मांगने का कोई औचित्य है तो मुझे आपसे माफी मांगनी चाहिए थी क्योंकि मैंने आपके अनुरोध को मानकर उस सभा में भाषण करना स्वीकार किया था किन्तु समय पर सभा में मैं गया नहीं। यह मेरा वचन-भंग ही था। इस वचन-भंग के बाद मैं मन ही मन इतना सकुचा गया कि न तो आपसे फोन पर यह बता सका कि मैं सभा में नहीं जा रहा हूं और न इस सम्बन्ध में बात करने का साहस ही बटोर सका।

आप अस्वस्थ चल रहे हैं। मैं नहीं चाहता कि किसी ऐसे कटु-तिक्त संदर्भ पर आपसे बातें करूं जिसमें आपके मन में क्षोभ और उद्वेग उत्पन्न हो। किंतु इस संदर्भ की पृष्ठभूमि से आप भली भांति परिचित हैं और अब उद्वेग की कोई बात रही भी नहीं है अतः बात करने में कोई हर्ज नहीं है। जिस दिन आपने मुझसे सभा में जाने और बोलने को कहा था, मैं उस समय भी अपने अवचेतन में सशंक था, किन्तु आपका अनुरोध मैं टाल नहीं सकता था। अपने अवचेतन को पीछे ढकेलकर मैंने चेतन मन से सभा में जाने और बोलने की सहर्ष स्वीकृति दे दी। उसी दिन भाषण लिखा, टाइप कराया और आपके अनुरोध के अनुसार उन महाशय के फोन की प्रतीक्षा करता रहा। जब दो दिन तक फोन नहीं आया तो मेरे अवचेतन के संशय ने सभा-संदर्भ के सारे ताने-बाने बुन डाले। क्या, क्यों, कैसे, किसने वगैरह सब कुछ मेरे मानस-पटल पर उभर आया, उजागर हो गया। मैंने निर्णय किया कि सभा में नहीं जाऊंगा। भवानी भाई से भेंट होने पर माफी मांग लूंगा। उनका दिया दंड भी वरदान होगा।

आपको आश्चर्य होगा कि मेरे पीठ पीछे इस प्रसंग में जो कुछ घटित हुआ उसका मुझे लेश मात्र भी पता नहीं है। आपसे फोन पर जो कुछ मालूम

हुआ वही मेरी जानकारी है किन्तु अन्तर की प्रेरणा से मुझे इस प्रसंग की जानकारी पहले ही मिल गई थी। मेरे अवचेतन के संशय ने मुझे सब कुछ बता दिया था जो बाद में घटित हुआ। 'संताहि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः।' कवि की यह सूक्ति सचमुच आप्त वाक्य है। अन्तःकरण की इस प्रवृत्ति ने मुझ असंत को उस दिन जो प्रेरणा दी वह सही थी, यह तो आप भी स्वीकार करेंगे। मन के शिथिल हो जाने पर तन की शिथिलता स्वाभाविक है। दोनों के उदास होने पर किसी सभा में भाषण करने जाना भला कैसे संभव होता !

आप जानते हैं कि मैं एक बहुत मामूली, अदना आदमी हूं। बहुत बड़े लोगों और बहुत बड़े स्थानों पर जाने में आज भी मेरे भीतर संकोच बना रहता है। साहित्य और अदब की दुनिया में मेरा कोई स्थान नहीं है। यों मन बहलाने को कागज काले करने का सबको अधिकार है, उस अधिकार का उपयोग मैं भी कर लेता हूं। जो कुछ लिखा-पढ़ा है वह इतना अल्प और तुच्छ है कि उसकी नुमाइश लगाने की कभी हिमाकत नहीं की। जो लोग इल्म के साथ तरतीब, हिकमत और नुमाइश जोड़ लेते हैं, वे विद्वान्, विचारक और ज्ञानी समझे जाने लगते हैं। उन्हें सभा-सोसाइटी में ऊंची कुर्सी पर बिठाया जाता है और यदि संयोजक बिठाना भूल गया तो वे स्वयं कुर्सी खींच कर बैठ जाते हैं। ऊंची कुर्सी जैसे उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। ऐसे लोग आत्म-विज्ञापन के लिए क्या-क्या उपाय और तरीके अपनाते हैं यह आपको बताने की आवश्यकता नहीं। अपनी भाग्य-रेख को बढ़ाने और अपनी कीर्ति को फैलाने के लिए यदि ऐसे चतुर-चालाक लोग कुछ उल्टे-सीधे प्रयास करें तो किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मैं इस तरह के प्रयास को '**स्वायत्त पेंसिल**' का अधिकार कहता हूं। लेकिन जब ये 'चतुर लोग' दूसरे हाथ में **रबड़** लेकर, ईर्ष्या, स्पर्धा, द्वेष और मात्सर्यवश दूसरों की भाग्य-रेख को रबड़ से रगड़ कर मिटाने में तत्पर होते हैं तो आश्चर्य ही नहीं दुःख होता है। मैं इसे रबड़-प्रयोग की क्षुद्र अनधिकार चेष्टा कहता हूं। पेंसिल और रबड़ दोनों हमारे पास हैं। प्रश्न केवल उनके सही और सार्थक इस्तेमाल का है। ईश्वर हमें सद्बुद्धि दे कि दूसरों की भाग्य-लिपि मिटाने में अपनी रबड़ का इस्तेमाल न करें।

कुछ लोग अपनी पेंसिल का इस्तेमाल इतना ज्यादा करते हैं कि दिन भर उसे घिसते रहते हैं। अपने उत्कर्ष की योजनाएं बनाएंगे; अपने अभिनन्दन की तैयारी में चेले-चांटों को जुटा देंगे; अभिनन्दन ग्रंथ की सामग्री स्वयं बटोरेंगे; आत्माभिनन्दन की समस्त प्रक्रिया से सांगोपांग जुड़ कर समाज में अभिनन्दनीय बनने का गौरव अर्जित करेंगे। सभी रंगों और सभी प्रपंचों की संस्थाओं में घुसकर ऊंचे आसन की टोह में रहेंगे। ऐसे यशःप्रार्थी साहित्यकारों से संभवतः

आप अपरिचित न होंगे । मुझे ऐसे चतुर यशःकामी लोगों से कोई शिकायत नहीं है । आत्मोत्कर्ष के लिए वे जो कुछ चाहें करें लेकिन जब इन लोगों की महत्त्वाकांक्षाएं अपरिमेय होकर फैलती हैं तब इन्हें किसी दूसरे का मान-सम्मान फूटी आंख नहीं सुहाता । ये फौरन रबड़ का तेज़ी और तलखी से इस्तेमाल शुरू कर देते हैं । इनकी मत्सरता तब छिद्रान्वेषण ही नहीं करती, दूसरे के गुणों में भी अवगुण देखती है । दूसरे के गुणों पर रबड़ घिसकर एक बार तो उसे 'निगुना' बना ही देते हैं और स्वयं सर्वगुणसम्पन्न होने का दंभ पालते हैं। वे सज्जन अब नहीं रहे जो दूसरों के अणु बराबर गुण को भी पर्वत बनाकर देखते और प्रसन्न होते थे । 'परगुण परमाणून पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विल-सन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।' अब तो ऐसा लगता है कि मत्सरी और ईर्ष्यालु ही बचे हैं जो दूसरों के यश और सम्मान को देखकर जल-भुन जाते हैं । कैसे हैं ये लोग और क्यों ऐसे हैं, कहना कठिन है—"ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं तेके न जानीमहे ।"

कोई अदना आदमी किसी सभा में पांच मिनट बोल ले तो किसी दूसरे का क्या जाता है । पांच मिनट के भाषण में वह कौन सी अक्षय कीर्ति का भाजन हो जाएगा ! शब्द तो आकाश का धर्म है । उच्चरित होने के साथ वायुमंडल में लीन हो जाता है । ऐसा कौन सा गौरव है जो वक्ता को पांच मिनट में ही सम्मान के सिंहासन पर बिठा देगा ? सच तो यह है कि मैं कभी ताल ठोक कर साहित्य के अखाड़े में उतरा ही नहीं, इसलिए किसी दूसरे को ललकारने या किसी से स्पर्धा करने का सवाल ही नहीं उठता । इस मामले में तो मैं अपने को दीनहीन और निरीह समझता हूं । अगर मैं अपने अहंकार में अपने आपको कुछ समझने का दंभ करूं तो वह मेरी निहायत नासमझी होगी । जब चींटी के पर लगते हैं तब उसकी बर्बादी दूर नहीं होती, यह तथ्य मुझसे छिपा नहीं है । इसलिए अहंकार के पर लगा कर मैं कभी ऊंची उड़ान नहीं भरता । ज़मीन पर टिका हूं और ज़मीन पर ही रहना चाहता हूं । ज़मीन पर सही-सलामत टिके रहना क्या कम सम्मान की बात है ? मैं किसी को कुछ नहीं कहता । चुपचाप अपने रास्ते चल रहा हूं । दिन भर काम करने के बाद थक कर जब सोता हूं तो यही सोचता हूं कि किसी का दिल तो नहीं दुखाया, किसी का कुछ छीना तो नहीं, किसी को भला-बुरा तो नहीं कहा—फिर यही शेर दुहराता हूं—

खयाल कीजिए क्या काम आज मैंने किया ।
जब उन्होंने दी मुझे गाली, सलाम मैंने किया ॥

× × ×

हिन्दी के आधे दर्जन से अधिक लोगों के अभिनन्दन समारोहों और अभिनन्दन

ग्रंथों से मेरा सम्बन्ध रहा है। मुझे उन ग्रंथों की प्रक्रिया का भी पता है जिनसे मैं जुड़ा नहीं रहा। दाई से पेट नहीं छिपता। मैं जानता हूं कि इन ग्रंथों के पीछे कितना प्रपंच, कितनी प्रवंचना और कितना आत्मविज्ञापन का प्रलोभन काम करता है। आप कह सकते हैं कि 'तुम्हारा अभिनन्दन किसी ने नहीं किया तो दूसरों के प्रति आरोप-अभियोग की बात करते हो।' शायद आपकी बात में सचाई हो। लेकिन मेढ़की को जुकाम न हो इसी में उसका भला है। मेढ़की के लिए कौन धन्वतरि दवा लेकर आएगा? और क्या बड़े सम्मानित लोग हंसेंगे नहीं कि मेढ़की भी सम्मान-जुकाम से पीड़ित होकर समारोहों के अस्पताल में भरती है! मैं इस काबिल नहीं कि मेरा अभिनन्दन किया जाए और मुझे फरिश्तों की कतार में जगह मिले। मैं तो मामूली इंसान हूं और इंसान ही बना रहूं, यही गनीमत है। "फरिश्ते से बेहतर है इंसान बनना, मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा।"

अभिनन्दन-आयोजनों के साथ ही पिछले बीस वर्षों में मैंने दिवंगत लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों की स्मृति में शोक-सभा और श्रद्धांजलियों का भी आयोजन किया है। मेरी अध्यक्षता या संयोजन में राजर्षि टंडन, चतुरसेन शास्त्री, न०दु०वाजपेयी, सुधांशु, सेठ गो० दास, मै०श० गुप्त, उ०शं०भट्ट, मुक्तिबोध, पंत, दिनकर, आचार्य द्विवेदी आदि अनेक गण्यमान्य साहित्यकारों का पुण्य स्मरण हुआ है। इनके लिए शोक-प्रस्ताव प्रायः मैंने ही लिखे हैं। अभी पिछले दिनों पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निधन पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में दिल्ली में एक विराट शोक-सभा हुई थी जिसका संयोजक मैं ही था। सभी वर्गों के साहित्यकारों ने अपनी शोक-श्रद्धांजलि अर्पित की थी। कुछ ईर्ष्यालु लोगों को इसके सफल आयोजन में मेरा वर्चस्व भासित हुआ और उन्होंने सभा समाप्ति के बाद ही उसकी कटु-तिक्त आलोचना शुरू कर दी। उन्हें न तो दिवंगत व्यक्ति की मान-मर्यादा का ध्यान रहा और न अपनी असंयत, अशिष्ट वाणी के अजस्र प्रवाह का। मैं बहुत देर तक सोचता रहा कि इस शोक में द्वेष कहां से फूट निकला? वाह री ईर्ष्या, तू कितने गहरे उतर कर जलाती है! शोक-प्रस्ताव लिखने या पढ़ने से किसका वर्चस्व बढ़ता है! धिक् रे मनुष्य, तुझे धिक्कार है—और शत-शत धिक्कार है तेरी कुढ़न-जलन और क्षुद्र मत्सरता को!

मैं दिवंगत साहित्यकारों को हिन्दी भाषा और राष्ट्र का गौरव मानकर स्मरण करता रहा हूं। प्रायः सभी के कृतित्व के सम्बन्ध में मैंने लेख आदि लिखे हैं। क्या मैंने इनका स्मरण इसलिए किया कि मेरे लिए भी कोई शोक-सभा का आयोजन करे? मैं कभी नहीं चाहूंगा कि मेरे जैसे अदना और नगण्य आदमी के लिए कोई शोक-सभा हो। न मुझे अभिनन्दन की चाह है और न

श्रद्धांजलि की चिन्ता ! मेरे अवसान से न तो साहित्य की कोई क्षति होगी और न राष्ट्र को कोई ठेस पहुंचेगी । मैंने आज तक अपने विषय में कोई भ्रम नहीं पाला है जो मुझे स्वयं छल सके । मैं भली भांति जानता हूं कि जल बुद्बुद् से अधिक मेरा कोई महत्त्व या अस्तित्व नहीं । "जायन्ते च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः ।" फिर स्मारक की कामना क्यों करूं ?

अपनी प्रतिष्ठा की कामना कोई बुरी बात नहीं लेकिन दूसरों की रत्ती भर प्रशंसा-प्रतिष्ठा को न सह पाना बहुत ओछेपन की निशानी है । बचपन में मेरे मन में भी बहुत स्वप्न थे । उनमें से अधिकांश स्वप्नों को मैं भूल चुका हूं । लेकिन जो याद हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं है कि अपने आगे बढ़ने के लिए किसी दूसरे को टंगड़ी मार कर गिराने का स्वप्न मैंने देखा हो । यदि ऐसा स्वप्न मैं देखता तो मुझसे नीच व्यक्ति दूसरा कोई न होता । मुझे इस बात का तनिक भी मलाल नहीं है कि मैं दुनिया में महत्त्वपूर्ण या महामहिम नहीं बन सका । बौना का बौना ही बना रहा और बौने के रूप में ही दुनिया से बिदा ले रहा हूं । लेकिन संतोष है कि मुझ बौने ने अपनी विराटता के लिए किसी दूसरे का बड़प्पन छीनने की घिनौनी चेष्टा नहीं की; ईर्ष्या की आंख से किसी को ताका नहीं; किसी से द्वेष रखकर स्पर्धा नहीं की । छल, प्रतारणा और मत्सरता तो बहुत दूर की बात है ।

मैं यह जानता हूं कि ईर्ष्या, पंकिल मन में फैलने वाली अमर बेल है । इसके उपजने और फूलने-फलने के लिए कार्य-कारण सम्बन्ध ढूंढ़ पाना कठिन है । ईर्ष्या-स्पर्धा का दुःख अकारण होता है । यह सोचते समय मुझे उस व्यक्ति के दुःख का ध्यान हो आता है जो दुर्भाग्य से एक आंख वाला है । क्या आपने कभी सोचा है कि इस एकाक्षी व्यक्ति के दुःख का मूल कहां है ? एक आंख से देखने का समस्त व्यापार तो वह करता ही है फिर दुखी क्यों है ? मेरे चिन्तन में उसका दुःख मात्सर्य में, स्पर्धा में, ईर्ष्या में है । मेरी-आपकी दो आंखें उसे खटकती हैं । यदि विधाता एक पल में सबको एक आंखवाला कर दे तो सबसे ज्यादा खुशी उस व्यक्ति को होगी जो एक आंख वाला है, जिसे अब तक आप काणा कहते थे । आपकी दो आंखें भीतर-भीतर उसे कैसे खल रही थीं यह शायद आपने कभी सोचा न होगा । मेरे कहने का मतलब यह कि कभी-कभी ऐसे तुच्छ और अज्ञात कारणों से भी इंसान के भीतर ईर्ष्या-स्पर्धा पैदा होती है जिसकी हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते । परमात्मा ने हर इंसान को नेकदिल ही बनाया होगा, वह बदी पर उतर आए तो परमात्मा क्या करे ! ईर्ष्यालु को एक बार तो सोचना चाहिए—

बाँधो कमर बदी पे दिया था दिल इसलिए ?
नेकी कोई जहाँ में न करे किसी के साथ ।

मैं अपने पत्र में बहुत भटक गया। जहां से बात शुरू की थी वह तो छूट ही गई। अब फिर उसी प्रसंग पर लौटता हूं।

आपसे फोन पर उस दिन सभा की चर्चा सुनकर मैं हैरान नहीं हुआ। मेरे लिए यह न तो कोई नई बात थी और न सर्वथा अप्रत्याशित ही। जैसाकि मैंने शुरू में लिखा है मेरे अवचेतन में संशय की घटा पहले ही घुमड़ आई थी और मैं जैसे भीतर ही भीतर इसके लिए तैयार था। उसका प्रतिकार भी मैंने सोच लिया था। आग की चिनगारी उसी को जलाती है जो ज्वलनशील होता है। घास-फूस रहित जमीन पर पड़ी आग की चिनगारी स्वयं बुझ जाती है— 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।' मैंने स्पर्धा की बेल को जब पनपने नहीं दिया तो उसमें संघर्ष के फूल-फल कहां से लगते? 'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः।' उस दिन सभा में मेरी अनुपस्थिति इसीलिए हितावह सिद्ध हुई कि आक्रोश का पात्र मैं वहां नहीं था। ऐसी स्थिति में मत्सरताका आवेग स्वयं मुरझा गया होगा।

भवानी भाई! जीवन में सिद्धियां अनेक हैं। उनमें से कुछ ऐसी हैं जिन्हें पाने के लिए नीचे झुकना पड़ता है। कभी-कभी नीचे झुकने वाले लोग मोती-माणिक्य भी उठा लाते हैं और उन्हें दिखाकर समाज में सम्मान पाते हैं किन्तु यह सम्मान चिरस्थायी नहीं होता और नीचे झुककर उठाया मोती भी अपनी आब छोड़ जाता है। युग-युग का सम्मान उनके लिए है जो आत्म-सम्मान के साथ सीना तानकर खड़ रहना जानते हैं, कुछ पाने के लोभ में कमर नहीं झुकाते, दर-दर याचक बने दस्तक देते नहीं फिरते। आप फिर कहेंगे कि— 'तुम्हें जो मोती नहीं मिला उसकी कसक, उसकी पीड़ा की यह अनुगूंज है, वेदना की प्रतिध्वनि है।" आपकी यह बात ठीक हो सकती है। यह तो सच ही है कि मैं बिना मोती-माणिक्य बटोरे इस संसार से जा रहा हूं। यह अच्छा ही हुआ कि बिना मोती-हीरे हासिल किये मैं कंगाल की तरह जिया, कपट-कैतब के कलंक से तो बचा रहा। कैतवार्जित कीर्ति-पताका फहराने की अपेक्षा में यशहीन (मौक्तिकविहीन) निर्धन बनकर जीना और संतोष से मर जाना अच्छा समझता हूं। कीर्ति जीवन-सरिता का झाग है, उसे न बटोर पाने का मुझे दुःख नहीं है।

मैं अपने देश के ऐसे असंख्य व्यक्तियों को जानता हूं जिनका नाम हम और आप बड़े सम्मान के साथ याद करते हैं किन्तु जिन्हें न किसी ने अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया और न जिन्होंने अपनी यशःपताका फहराने के लिए कभी कोई उपक्रम किया। कन्दराओं में घर बनाकर, वृक्ष की छाया में बैठकर, काठ के पदत्राण पहनकर, कन्दमूल खाकर जीने वाले ये लोग इसी देश में ऋषि-मुनि कहलाते थे। इन्हें कपिल, कणाद, पतंजलि आदि नामों से जाना जाता

है। इनके पास न तो सभा-मंच था और न अखबार की सुर्खी में छपने योग्य कोई भाषण। फोटो की तो कल्पना भी अकल्पनीय है। यदि हम इनके चित्र की कल्पना करें तो शायद कौपीन और कमंडलु के सिवा हमारा ध्यान किसी प्रसाधन या उपकरण पर जा ही नहीं सकता। फिर भी ये नाम इस देश की सांस्कृतिक विरासत बनकर हमारे गर्व और गौरव के प्रतीक हैं। इनकी कीर्ति-पताका किसी भी गिरिश्रृंग से ऊंची और किसी भी धवल जलद से शुभ्र एवं निर्मल है। आप फिर कहेंगे कि मैं आदर्श की —"अतीत की भूली-बिसरी बातें याद दिला रहा हूं। ज़माना बदल चुका है और यह अतीतोन्मुखी दृष्टि आज के युग में प्रकाश नहीं दे सकती।" लेकिन मेरा आग्रह केवल एक बात पर है जो त्रिकालातीत है और वह है **नैतिक मूल्यों का आग्रह**। चारित्र्य के उदात्ती-करण की दिशा में पदन्यास। छोटे-मोटे वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष के संस्कारों से मुक्ति। छोटी सी उपलब्धि के लिए बड़े मूल्य का बलिदान बुद्धिमत्ता नहीं है। 'अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचार मूढः प्रतिभासि मे त्वम्।' का ध्यान तो रखना ही चाहिए। मैं न तो ऋषि-महर्षि हूं और न त्यागी-तपस्वी। लेकिन उनके सात्त्विक स्मरण का मुझे अधिकार है क्योंकि ये महापुरुष मेरे महान् देश के आदर्श हैं। उनका सहस्रांश न होने पर भी पीछे मुड़कर उन्हें देखने की स्पृहा का मेरा अधिकार कौन छीन सकता है!

× × ×

अतीत और आदर्श की बात चल पड़ी है तो अपने जीवन का एक-आध पृष्ठ आपके सामने खोलता हूं। इसलिए नहीं कि यह मेरे चरित्र के किसी उज्ज्वल पक्ष को उद्घाटित करता है, बल्कि इसलिए कि आदर्श की बात किस तरह बालक-मन पर अमिट छाप छोड़ जाती है।

अपने जीवन में सबसे पहली बार जब महात्मा गांधी को देखा था तो कोई प्रेरणा नहीं मिली थी। दूर से देखने पर श्रुत-महिमा तक ही बालक पहुंच पाता है। दूसरी बार सन् १९२९ में गांधी जी को बहुत समीप से देखा। उन्होंने खादी के सम्बन्ध में हम लोगों से वचन भरवाये थे। तब उनकी 'आत्मकथा' पढ़कर भी प्रेरणा मिली थी। सत्य को समझाने के लिए उन्होंने एक लघुकथा सुनाई थी जो आज भी याद है। आप भी उसे सुन लीजिए—

'मदीना शहर के किसी मुहल्ले में, दो व्यक्तियों में किसी बात को लेकर झगड़ा हो गया। दोनों एक-दूसरे पर झूठ बोलने का आरोप लगा रहे थे। कौन सच बोल रहा है जब इसका फैसला पड़ोसी न कर सके तो उन्हें सलाह दी गई कि वे सही इंसाफ के लिए शहर-अदालत के बड़े काज़ी के पास जायं और अपने झगड़े का फैसला करावें। लोगों को यकीन था कि काज़ी जी सच्चे, ईमानदार, इंसाफ पसन्द न्यायाधीश हैं। वे ज़रूर दूध का दूध और पानी का पानी कर देंगे।

अपनी-अपनी मिसल लेकर दोनों व्यक्ति काज़ी जी के घर पहुंचे। वे देखते क्या हैं कि काज़ी मियां अपनी बकरी को, जो खूंटे से खुलकर बगीचे में भाग आई थी, पुचकार कर पकड़ने की कोशिश कर रहे थे। पुचकारने के साथ अपने हाथ और मुख से ऐसा इशारा कर रहे थे कि मानो उनके हाथ में बकरी के लिए रोटी हो। दरअसल उनके हाथ में कुछ नहीं था, वे यों ही झूठ-मूठ बकरी को फुसला-बहका कर पकड़ना चाहते थे। वे बकरी को झांसा दे रहे थे। जब इन दोनों व्यक्तियों ने काज़ी साहब का बकरी के साथ धोखाधड़ी का यह व्यवहार देखा तो वे दोनों उल्टे पांव वापस हो लिए। काज़ी साहब ने देखा कि दो आदमी यहां तक आकर, बिना मिले, बिना बात किए वापस लौट रहे हैं तो उन्हें अचरज हुआ। उन्होंने आवाज़ देकर उन्हें वापस बुलाया और उनसे चुपचाप लौटने का कारण पूछा। उन्होंने कहा, 'काज़ी साहब, हम आपको सच्चा और ईमानदार इंसान समझकर आपके पास अपने झगड़े का फैसला कराने आये थे। लेकिन यहां आकर हमने देखा कि आप तो एक बेज़ुबान जानवर को पकड़ने के लिए झूठ-मूठ रोटी का झांसा देकर धोखाधड़ी कर रहे हैं तो आप हमारे झूठ-सच का सही इंसाफ कैसे करेंगे। जो अपनी पालतू बकरी के साथ सच्चा नहीं है वह हमारे साथ सचाई का आचरण कैसे निभा सकेगा। हम तो सत्य और न्याय की तलाश में निकले थे। आपकी सत्यनिष्ठा हमारे सामने प्रकट हो गई। हमें माफ कीजिए, हम आपसे फैसला कराना नहीं चाहते।' यह कहकर वे दोनों व्यक्ति काज़ी साहब की नज़र से ओझल हो गये।"

'काज़ी और बकरी' शीर्षक इस कहानी से महात्मा गांधी ने हम बालकों को सत्य का जो स्वरूप समझाया था वह किसी दर्शन के ग्रंथ से भी नहीं समझाया जा सकता। जानवर के साथ भी झूठ का, झांसे का, छल का व्यवहार त्याज्य है। सत्य निर्भ्रान्त होना चाहिए। मूक और निरीह बकरी को छलने वाला व्यक्ति झूठा है, पाखंडी है। आज भी जब कभी मैं किसी व्यक्ति को जानवर या बच्चे के साथ ऐसा फुसलाने का खेल करते देखता हूं तो काज़ी मियां की बकरी और बापू की वाणी मेरे सामने प्रत्यक्ष हो जाती है।

अहिंसा के सम्बन्ध में मेरी जो कुछ भी धारणा है उसका आधार गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, ईसा मसीह या सम्राट् अशोक नहीं महात्मा गांधी ही हैं। एक कहानी बचपन में ही उपदेश कथाओं में पढ़ी थी जिसमें अहिंसा का सात्त्विक प्रभाव वर्णित है। कहानी बहुत मशहूर है। आपने भी पढ़ी होगी। लेकिन अच्छी बात को फिर से सुनने में कोई हानि नहीं। नाम-जप में तो एक ही शब्द की हज़ार-लाख बार आवृत्ति होती है। आइए, आज फिर हम दोनों एक साथ बैठ कर इस कहानी को दुहरा लें। मैं बहुत संक्षेप में कहानी दोहराता हूं। सुनिए—

अरब देश में एक बड़ा दयालु, अहिंसक, ईश्वर-भक्त व्यक्ति रहता था।

नाम था उसका शेख यूसुफ । जाड़े की एक सर्द रात को किसी अनजान व्यक्ति ने यूसुफ का दरवाज़ा खटखटाया और व्यथाभरे शब्दों में रात काटने को शरण मांगी । उस व्यक्ति के पीछे राजा के सिपाही लगे थे और वह उनसे छिपता फिर रहा था । यूसुफ ने बड़े प्यार से अपरिचित को अतिथि मानकर भीतर बुलाया । उसे पीने को पानी, खाने को भोजन और सोने के लिए बिस्तर दिया। थका-मांदा वह आगन्तुक खा-पीकर गहरी नींद में सो गया ।

सूर्य की पहली किरण का प्रकाश फैलते ही यूसुफ ने उस अतिथि को नींद से जगाया और कहा, "आप इस धुंधलके में निकल जाइये ताकि राजा के सिपाही आपको पहचान न सकें। रात को आपकी सेवा में मुझसे जो त्रुटि हुई हो उसके लिए मुझे क्षमा करें। हां, मार्ग की सुविधा के लिए यह धन आप साथ ले जाइए । इसमें संकोच न करें। जो कुछ मेरे पास है वह मेरा नहीं, प्रभु का है । यह घर भी एक अतिथिशाला जैसा ही है । इसे आप अपना ही समझें ।"

शेख यूसुफ की इस उदार वाणी में आगन्तुक को प्रभु की दिव्य वाणी सुनाई दी, उसने कृतज्ञता के साथ हाथ जोड़कर यूसुफ को सलाम किया और रुंधे गले और सिसकती आवाज़ में कहा, "शेख ! मैं आपके एहसान को ज़िन्दगी भर नहीं भूलूंगा । आपने मुझे रात को सिर्फ पनाह ही नहीं दी बल्कि अंधेरे और गुनाहों की दुनिया में भटकते हुए मुझे ज़िन्दगी की रोशनी भी दी है। आपने मेरी आंखें खोल दी हैं । मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूं । यदि आपकी इजाज़त हो तो मैं अपनी बात पेश करूं ।"

यूसुफ आगन्तुक के विनय भाव को समझ नहीं सका। उसने कहा, "हे मेरे रात के मेहमान, मैंने तो अपना इंसानी फर्ज़ अदा किया है। कोई उपकार नहीं किया । मैं अपने आपको धन्य मानता हूं कि मुझे अपने एक मुसीबतज़दा भाई की सेवा का मौका मिला । आप क्या कहना चाहते हैं—कहिए । मैं आपकी बात सुनने को तैयार हूं ।"

आगन्तुक सहमी और कांपती आवाज़ में बोला, "शेख साहब, मेरा नाम इब्राहीम है । आपके बड़े बेटे की हत्या मैंने ही की है । मैं ही वह पापी-नृशंस व्यक्ति हूं जिसने आपके बुढ़ापे का सहारा छीना है । आपके मृत पुत्र की आत्मा को शान्ति तभी मिलेगी जब आप उसके हत्यारे का वध कर देंगे । मेरा सिर आपके सामने हाज़िर है । उठाइए तलवार और अपने प्यारे बेटे की हत्या का बदला चुका कर, खून का बदला खून से पूरा करिए ।"

शेख यूसुफ अपने बेटे के हत्यारे इब्राहीम को सामने सिर झुकाए खड़ा देखकर हतप्रभ थे। उनके भीतर मृत पुत्र के स्मरण से भीषण तूफान उठ खड़ा हुआ था । वात्सल्य का अपार पारावार जो बेटे की हत्या से सूख गया था एक बार फिर तरंगायित हो उठा । यूसुफ की चिन्तन शक्ति कुंठित हो गई ।

इब्राहीम हत्यारा था, प्रतिशोध का पात्र था, लेकिन वह शरणागत भी तो था। यूसुफ के मन में दैवी प्रेरणा का स्फुरण हुआ और उन्होंने संयत स्वर में इब्राहीम से कहा, "तुमने जो कुछ किया अपने विवेक से किया होगा। आवेश के क्षणों में किया होगा। मैं उसे भूला तो नहीं, लेकिन भूल जाना चाहता हूं। मुझे भूले दर्द की याद मत दिलाओ। मेरी प्रार्थना है कि तुम फौरन यहां से चले जाओ, ऐसा न हो कि मेरी दानवी वृत्ति जग जाय और मैं प्रतिशोध के लिए हिंसा पर उतारू हो जाऊं। तुमको छिपकर भागने के लिए और अधिक धन की ज़रूरत होगी, यह रुपयों की थैली भी साथ लेते जाओ। मैं तुम्हें माफ करता हूं। तुम्हारे चले जाने से मेरे मन की कालिमा धुल जायगी। मैं शान्त चित्त होकर क्षमा को पूरा प्रतिशोध और अहिंसा को सच्चा प्रतिकार समझूंगा।"

शेख यूसुफ ने इब्राहीम को माफ करने के बाद अपने मृत पुत्र को मन ही मन सम्बोधित करते हुए कहा, 'प्यारे बेटे, तेरे लिए मैं दिन-रात तड़पता रहा हूं। आज तेरे हत्यारे से मैंने तेरी हत्या का पूरा बदला ले लिया। तेरे हत्यारे इब्राहीम का पाप उसके प्रायश्चित्त की आग में दग्ध हो गया है। जिस प्रकार मैं शरणागत इब्राहीम को क्षमा करके सन्तुष्ट हूं, मेरे प्यारे बेटे, अब तू भी शान्ति के साथ चिर निद्रा में सो जा।'

शेख यूसुफ की यह मर्मकथा क्षमा और अहिंसा की चरम परिणति है। क्षमा से बड़ा कोई प्रतिशोध नहीं और अहिंसा से बढ़कर कोई प्रतिकार नहीं। मुझे अहिंसा की व्याख्या के लिए इस कथा से अच्छी कहानी नहीं मिलती।

आप सोच रहे होंगे कि मैं यह सब बेसिर-पैर की बातें खत में क्यों लिख रहा हूं। जो छोटी सी बात थी वह तो पहले पृष्ठ पर कह दी, अब बाल-कथा और नीति-कथा लिखने का अभिप्राय क्या है। अभिप्राय स्पष्ट न हो तो भी व्यंजना से तात्पर्य व्यंग्य अवश्य है और आप जैसा सहृदय कवि उसे समझ ही लेगा। मैं व्याख्या क्यों करूं। सभा का संदर्भ व्यख्या के लिए पर्याप्त है।

भवानी भाई, थक गये होंगे आप मेरा पत्र पढ़कर और हो सकता है कुछ उद्वेग भी पैदा किया हो मेरी अप्रासंगिक बातों ने। लेकिन मैं जिसे किसी भी सम्बन्ध से आत्मीय मानता हूं उससे मौका पाने पर दिल खोलकर बातें कर लेता हूं। सबके सामने तो ज़ुबान खुलती नहीं।

कान में सबके अपनी बात न डालो।
आबरू मिस्ले आबे मोहर हैं।

सस्नेह,

आपका
विजयेन्द्र स्नातक

श्री भवानीप्रसाद मिश्र
२१, गांधी स्मारक निधि, दिल्ली

डा० दीक्षित की ट्रेन छूटने पर प्रभात जी का संयम

संदर्भ

डा० प्रभात बम्बई विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत हैं। बम्बई के व्यस्त जीवन में रम जाना उनके लिए स्वाभाविक है। मेरे मित्र हैं। मैं उनकी प्रशंसा करूं तो लगेगा कि मैं जैसे आत्म-प्रशंसा ही कर रहा हूं किन्तु उनके संयम, साहस और धैर्य का मैं कायल हूं। इस पत्र में डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित की ट्रेन छूट जाने की मामूली सी घटना का वर्णन है जो डा० प्रभात की स्थिरचित्तता पर प्रकाश डालती है। डा० दीक्षित से क्षमा-याचनापूर्वक मैं यह पत्र लिख रहा हूं। मुझे विश्वास है उस दिन की घटना का साक्षी होने से दीक्षित जी मुझे क्षमा और डा० प्रभात को साधुवाद देंगे।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
२७-११-७७

प्रिय भाई प्रभात जी,

सप्रेम नमस्ते। इस बार आपका दिल्ली आना मैंने नहीं माना। पहले दो दिन तो प्रतीक्षा में ही निकल गए। आज प्रभात जी आयेंगे—आज नहीं आये तो कल शाम तक अवश्य आ जायेंगे। लो, संध्या भी समाप्त हुई और प्रभात जी के दर्शन नहीं हुए। सोचिए, भला कोई ऐसा भी दिन होता है जिसमें प्रभात न हो! लेकिन यह सच है कि २२-२३ नवम्बर को हमारे घर में बिना 'प्रभात' के संध्या का आगमन हुआ। खैर, २४ को अपराह्न में हमारे यहां 'प्रभात' के दर्शन हुए। सबेरा हुआ लेकिन देर से हुआ। सबेरा जब भी होता है, अच्छा लगता है। चिड़ियां चहचहाती हैं, उनींदी आंखों का अवसाद दूर होता है, उषा की स्वर्णिम आभा से घर-आंगन जगमगा उठता है। यह सब प्रभात का ही करिश्मा है। प्रभात जी, आप जिस समय शिमला में पर्वत की उत्तुंग-शृंग मालाओं पर हिमपात की शोभा निहार रहे थे उस समय हम लोग आपके आगमन की प्रतीक्षा में चंडीगढ़ से आने वाले वायुयान की उड़ान की समय-सारणी देखने में लगे थे। यों तो प्रतीक्षा की घड़ी सुखद होती है, लेकिन प्रतीक्षा की अवधि का सान्त होना आवश्यक है। निरवधि-प्रतीक्षा में कौन सुखानभूति करना चाहेगा।

इस बार आप चौबीस घंटे भी हमारे यहां नहीं टिके। इसलिए जमकर दो घंटे भी बात करने का अवसर नहीं मिला। कलैंडर पर काबू पा सकना हमारे-आपके हाथ की बात नहीं। यह तो काल-चक्र के निश्चित विधान से सरकता रहता है। २४ नवम्बर समाप्त हुआ और २५ को आपके प्रस्थान की घड़ी आ गई। एक दिन की इस छोटी सी यात्रा से ही आप इस विराट् जीवन-यात्रा का जायजा ले सकते हैं। किसी भी यात्रा पर मनुष्य का पूर्णाधिकार नहीं है। कब शुरू होती और कब समाप्त हो जाती है, कोई नहीं जानता। मनुष्य की शक्ति काल के संदर्भ में कितनी सीमित, कितनी अल्प और कितनी पराश्रित है यह प्रतिदिन परिवर्तित होने वाली कलैंडर की तारीख से जान सकते हैं। लेकिन आपके ऊपर इन छोटे-छोटे परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आप परिस्थितियों से न तो उद्विग्न होते हैं और न विचलित ही। शान्त-स्निग्ध भाव से उनका सामना करते हैं। यह एक दैवी सम्पत है जो निसर्ग से आपको सुलभ है। आने-जाने, मिलने-बिछुड़ने, कहने-

सुनने, स्थितियों के सम-विषम होने आदि सभी क्रियाकलापों में मैंने आपको स्थितप्रज्ञ रूप में देखा है ।

आप कहेंगे, स्थितप्रज्ञ तो भारी-भरकम योगदर्शन और गीता का शब्द है । ऐसे गंभीर शब्द को इस संदर्भ में क्यों प्रयुक्त करते हैं । मेरा उत्तर है, हवा का रुख छोटे से तिनके के कम्पन से ही पहचाना जाता है । जो तिनके का हिलना-डुलना देखकर हवा का रुख नहीं समझ पाते उन्हें आंधी-अंधड़ के रुख की पहचान कभी नहीं हो सकती ।

इस संदर्भ में एक बड़ी मजेदार घटना इस समय मेरे स्मृतिपटल पर उभर आई है । आप भी उसे भूले न होंगे । शशिकान्त तो आज भी उसकी याद कर लेता है । घटना २ जनवरी १९७५ की है । आपकी स्थिरचित्तता और अविचलता इसमें पूरी तरह प्रतिबिम्बित है ।

घटना इस प्रकार है । डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित मेरे और शशिकान्त के साथ पूना से बम्बई आए थे । आपके घर दिन में ठहरे थे । उन्हें शाम को फ्रंटियर मेल ट्रेन से नागदा होकर उज्जैन जाना था । पूना से ही उन्होंने फर्स्ट क्लास में आरक्षण कराया हुआ था । शाम को साढ़े सात बजे ट्रेन पकड़नी थी । हम लोग साढ़े छह बजे भोजन की टेबुल पर ऐसे आराम से विराजमान थे जैसे कि फ्रंटियर मेल, शीतला देवी टेम्पिल मार्ग के बेवर्ड ब्लाक से हमें लेने आएगी, हमें न तो समय का ध्यान था और न स्टेशन जाने की जल्दी । कारण यह था कि आपकी निश्चिन्तता ने हम सबको जड़ीभूत कर रखा था । बड़े स्वाभाविक और सहज रूप से आपका 'सरमन ऑन द टेबुल' जारी था । आप बड़े शान्त भाव से दीक्षित जी को समझा रहे थे—"दीक्षित जी, आप बड़े मजे से भोजन कीजिए, अभी गाड़ी आने में बहुत समय है । फ्रंटियर मेल दादर स्टेशन पर साढ़े सात बजे आती है । दादर स्टेशन पहुंचने में दस मिनट का समय लगता है । अभी पौने सात बजे हैं । पूरा पौन घंटा अपने पास है । भोजन में जल्दी और हड़बड़ी करने की कोई आवश्यकता नहीं । आपका सामान कार में रखवा दिया है । हम सात तक दादर स्टेशन पहुंच जायेंगे ।"

आपके इस शान्त-स्निग्ध उपदेशामृत से दीक्षित जी पूर्णत: आश्वस्त होकर कार में बैठे और ठीक दस मिनट में दादर स्टेशन पहुंच गए । गाड़ी आने में अभी बीस मिनट थे । कुली को बुलाकर सामान निकालने को कहा तो कुली पूछ बैठा, कौन सी गाड़ी में आपको जाना है । दीक्षित जी ने तुरन्त फ्रंटियर मेल के फर्स्ट क्लास के डिब्बे में सामान रखने को कहा । कुली ने समवेदना की मुद्रा में बताया कि फ्रंटियर मेल ट्रेन दादर स्टेशन पर नहीं ठहरती । आपको बॉम्बे सेंट्रल जाना होगा ।" इतना सुनना था कि दीक्षित जी एकदम हतप्रत हो गए । यदि ठेठ पुराने घिसे मुहावरे की भाषा में कहूं तो कहना

होगा कि दीक्षित जी के तो 'हाथ के तोते उड़ गए'। भौचक्के से होकर वे आपकी ओर देखने लगे। लेकिन आप घबराये नहीं, सहमे नहीं, विचलित नहीं हुए। कार का स्टीयरिंग मज़बूती से थामे धीर-गंभीर स्वर में बोले—"कोई चिन्ता नहीं, अभी पन्द्रह मिनट का समय है। हम दस मिनट में बम्बई सेंट्रल स्टेशन पहुंचकर गाड़ी पकड़ लेते हैं और कार को मोड़कर तेज़ रफ्तार से बम्बई सेंट्रल की तरफ चल पड़े। स्टेशन के बाहर तक तो बिना किसी अवरोध के पहुंच गए किन्तु स्टेशन के चौराहे वाला सिगनल रेड मिला। रेड सिगनल दीक्षित जी के लिए लाल दैत्य से कम नहीं था। सिगनल मिलते ही स्टेशन के भीतर पहुंचे और दीक्षित जी ने नज़र पड़ते ही एक कुली को सामान उठाने के लिए पकड़ लिया। उस कुली के पास कुली की वर्दी तो थी लेकिन वर्दी के भीतर कुली का बोझ उठाने लायक बदन न था। उसकी ताकत दस किलो वज़न उठाने तक सीमित हो चुकी थी। दरअसल शारीरिक दृष्टि से वह अवकाश प्राप्त था—एक्सटेंशन पर जीविकोपार्जन के लिए विवश था। सामान देते समय दीक्षित जी ने उसकी शीर्यमाण शरीर-यष्टि पर ध्यान नहीं दिया। ध्यान देने का उनके पास समय ही कहां था। वे तो अपनी उद्विग्न मनःस्थिति में सब कुछ भूलकर लक्ष्यबेध के लिए टंगी मछली की आंख की तरह, फ्रंटियर मेल को लक्ष्य बनाए हुए थे। उन्हें फ्रंटियर मेल का सबसे आखिरी डिब्बा दीख रहा था और उसके बाहर खड़े, हाथ में हरी झंडी लिए गार्ड महाशय पर उनकी नज़र जमी थी। दीक्षित जी ट्रेन की ओर द्रुत गति से भाग रहे थे और उनका मरियल कुली मंद-मंथर गति से सरक रहा था। इस अकुलाहट का मूक दर्शक था भोला बालक शशिकान्त जिसके ज़िम्मे कुली की देखभाल आ गई थी। दीक्षित जी और कुली में सौ-सवा सौ गज़ का फासला रहा होगा लेकिन दीक्षित जी और फ्रंटियर मेल में तो अब मुश्किल से पचास गज़ का ही फासला शेष था। विचित्र द्विविधा थी। दीक्षित जी दौड़कर यदि ट्रेन पकड़ भी लें तो सामान ट्रेन तक कैसे पहुंचे! यदि सामान नहीं पहुंचता तो दीक्षित जी का ट्रेन पकड़ना व्यर्थ होगा क्योंकि उनका टिकट, कागज़, कपड़ा सब कुछ तो अटैची-केस में था जिसे वह मरियल कुली ढो रहा था। दीक्षित जी का उद्वेग देखते ही बनता था। कम्बख्त कुली के कारण ही क्या ट्रेन हाथ से निकल जाएगी!

दीक्षित जी को कुली पर गुस्सा आना स्वाभाविक था। सामान उठाने की ताकत बदन में है नहीं और पेशा कुली का करते हैं। दूसरों की ट्रेन छूट जाए इन्हें क्या चिंता! दीक्षित जी रोष और आवेश भरे शब्दों में कुली को तेज़ चलने की प्रेरणा और फटकार दोनों का प्रयोग कर रहे थे किन्तु सब निष्फल। जैसे भुना हुआ चना अंकुरित नहीं होता वैसे ही निर्वीर्य और

निर्बल देह में ऊर्जा का, गति का स्पन्दन भरा नहीं जा सकता। दीक्षित जी के आवेश को देखकर मुझे उस समय गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी के तांगे वाले की भाषा का स्मरण हो आया। मुझे लगा कि दीक्षित जी कुली को फटकारते हुए कह रहे हैं—'चल रे करमा वालिए, भग आ जीणो जोगिए, कदमा रख पुत्ता प्यारिए'--मगर कुली पर किसी भाषा का, किसी मुद्रा का, किसी आवेष्टित भंगिमा का, किसी प्रेरणा और प्रोत्साहन का कोई असर नहीं था। वह तो समाधिस्थ की भांति निर्लिप्त भाव से सरक रहा था। वह अपनी चाल पर अचल-अडिग था। कुली की इस अडिग अगति से जो होना था सो हो गया। फ्रंटियर मेल दस-बारह गज़ के फासले से छूट गई। दीक्षित जी इस दौड़-भाग से हांफ उठे थे लेकिन कुली के चेहरे पर कोई शिकन न थी। बड़ी लाचारी और करुणा की स्थिति थी। "किस्मत की खूबी देखिए, टूटी कहां कमंद, दो-चार हाथ जबकि लबे बाम रह गया।"

हम लोग आपके विश्वास और साहस से पूर्णतः आश्वस्त थे। हम सोच नहीं सकते थे कि इतनी फुर्ती से दौड़-धूप करने के बाद भी ट्रेन हाथ से निकल जाएगी। उड़ती सी, पंख फड़फड़ाती सी फ्रंटियर मेल को हम विवश और विषण्ण भाव से देख रहे थे। ट्रेन तेज रफ्तार से भाग रही थी और हम सब स्तब्ध, जड़, कुंठित, निराश होकर कातर भाव से उसे ताक रहे थे! प्लेटफार्म जो पांच मिनट पहले चहल-पहल और रौनक से भरा था एकदम शान्त और सूना हो गया। दीक्षित जी के सामने 'अब क्या करें' की समस्या ने सुरसा की तरह मुंह फैलाया। उनके इमोशनल टेम्परामेंट के लिए यह अप्रत्याशित, अनाहूत विकट समस्या थी। कर्तव्य और दायित्व का पूरा बोध होने पर भी इस बेबसी के लिए वे क्या करें? एक क्षण को तो हम चारों उस सूने प्लेटफार्म पर भूले-भटके से खड़े रहे। सचमुच ही वह दृश्य बड़ा दार्शनिक भंगिमा का था।

दीक्षित जी के लिए फ्रंटियर मेल, छूटने के क्षण तक पूर्ण सत्य थी। ब्रह्म सत्यं का पूरा पर्याय। स्टेशन पर और जो कुछ दृश्यमान था वह मिथ्या, जगत मिथ्या की तरह। लेकिन जब ट्रेन छूट गई तो सत्य ही हाथ से निकल गया। वस्तुतः भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद की कल्पना एक ठोस आधार पर की गई है। अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, सर्वं खल्वदिं ब्रह्म का चिन्तन अद्वैतवाद के माध्यम से ही संभव है यह मैंने उस दिन दीक्षित जी की फ्रंटियर मेल के पकड़ने की एकतानता में पाया। दीक्षित जी फ्रंटियर मेल में अपने अद्वैत चिंतन को समेट कर सारे बाह्य दृश्य जगत् से जूझ रहे थे। यदि दीक्षित जी ने बौद्ध दर्शन के नैरात्म्यवाद तथा क्षणभंगवाद को उस समय स्वीकारा होता तो उस क्षणिक दृश्य से उनके भीतर ऐसे गहरे अवसाद और

नैराश्य के भाव उत्पन्न न होते। 'यत् सत् तत् क्षणिकम्, यथा जलधरा:'—का ध्यान करने से फ्रंटियर मेल भी क्षणिक है, बम्बई सेंट्रल और दादर स्टेशन भी। ट्रेन तो आती-जाती रहती हैं, इनमें ब्रह्म की प्रतीति क्यों? लेकिन दीक्षित जी बौद्ध दर्शन के क्षणभंगवाद में आस्था नहीं रखते। उन्होंने अद्वैत वेदान्त और शैव दर्शन पढ़ा है। वे कैसे मान लें कि जो फ्रंटियर मेल पांच मिनट पहले उनकी आस्तिक कल्पना में ब्रह्माकार थी वह छूट जाने पर मिथ्या हो गई। मैं समझता हूं कि दीक्षित जी बौद्ध दर्शन के इस सत्य को कभी न कभी अवश्य स्वीकार करेंगे। जो वस्तु हमारी दृष्टि से ओझल हो गई—दूसरे शब्दों में शून्य में विलीन हो गई उसके लिए खेद और विषाद क्यों? प्रभात जी! आपने उसी क्षण इस सत्य को पहचाना था और फ्रंटियर मेल का विकल्प खोजना शुरू किया था।

फ्रंटियर मेल ट्रेन तो बम्बई सेंट्रल छोड़कर कहीं दूर पहुंच गई। अब उसे पकड़ पाना संभव नहीं, फिर मरीचिका में भटकने से क्या लाभ? हम चारों के सामने उस समय क्रोध का आलम्बन यदि कोई था तो वह बेचारा बोदा कुली ही था जिसे हम झिड़क सकते थे, डांट-फटकार कर अपना गुस्सा उतार सकते थे। दीक्षित जी ने यह असफल प्रयोग किया भी था। हमने सोचा कि यदि कुली को झिड़कने-फटकारने से गाड़ी मिल सकती होती तो हम भी कुली को धमकाने में दीक्षित जी का साथ देते। किंतु हम जानते थे कि कुली निर्दोष है। हमारे चयन में दोष था, हमने उसके पौरुष को बिना जांचे उस का चयन किया था, फिर वह पुरुषार्थ कहां से करता! इस स्टेशन पर उसने पिछले पचास वर्षों में लाखों मुसाफिरों को गाड़ी में चढ़ाया-बिठाया है, सबका सामान ढोया है। स्टेशन पर लेट पहुंचने वाले यात्रियों की भी उसने सहायता की है और ऐन वक्त पर आने वाले, हमारे जैसों की गाड़ी छूटते भी उसने देखी है। वास्तव में वह निर्लेप, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। वह स्टेशन, रेलगाड़ी, मुसाफिर, सामान, समय सबका भेद जानता है। किसी को गाड़ी में चढ़ाने से वह खुशी नहीं मानता, किसी की गाड़ी छूट जाने से वह गमगीन नहीं होता। नितान्त निर्विकार भाव से वह स्टेशन के यातायात और जगत्-गति को देखता है। वह तो घटित होने वाले दृश्यों का दर्शक मात्र है। दीक्षित जी की गाड़ी छूटने से वह विषण्ण नहीं हुआ तो इसमें अचरज की क्या बात है। आप उसे तत्त्ववेत्ता या ज्ञानी कहना नहीं चाहते, तो मत कहिए। मूढ़ कहिए—और फिर इस सूक्ति को दुहराइए—"सब ते भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति।"

हम लोग जो अपने को ज्ञानी और विद्वान समझते हैं इस मूढ़-शाला में पढ़ने नहीं गए इसीलिए बहुत सी छोटी-मोटी बातों से खिन्न और चिन्तित

हो उठते हैं। कहने को तो सद्-असद् वस्तु-विवेक का नाम ज्ञान है किन्तु ट्रेन छूट जाने का दु:ख किस विवेक में रखा जाएगा। क्या यह दु:ख अभ्यास का ही प्रतिबिम्ब नहीं है। अद्वैत-ज्ञान के साथ इस मिथ्या-ज्ञान का पाठ भी हमें पढ़ना चाहिए। शायद आपने इस विवेक का पाठ हम लोगों की अपेक्षा ज्यादा पढ़ा है इसलिए आप सारे संदर्भ में कहीं भी एक पल को विचलित नहीं हुए।

फ्रंटियर मेल छूट जाने के बाद दीक्षितजी के उद्वेग और आवेग ने आक्रोश का रूप धारण किया। इसमें सन्देह नहीं कि वे बड़ी संकटग्रस्त द्विविधा की स्थिति में अकारण फंस गए थे। पूना से तो वे सात-आठ घण्टे पहले चलकर ट्रेन टाइम से बहुत पहले बम्बई आ गए थे। प्रथम श्रेणी का उज्जैन तक का पूरा-पक्का रिज़र्वेशन पहले ही करा लिया था। इसलिए ट्रेन निकल जाने में उन्हें कहीं अपना प्रमाद दिखाई नहीं दे रहा था। अत: जो आक्रोश अब तक स्वयं पर, रेलवे की समय-सारणी पर और कुली पर झापड़ जमा रहा था, सहसा पलट गया। पलटा खाते ही उसने आपको अपनी लपेट में लिया। दीक्षित जी झल्लाए स्वर में बोले—"प्रभात जी, आज आपने मुझे किस मुसीबत में फंसा दिया। अब क्या होगा? मैं उज्जैन कैसे पहुंचूंगा? पूना वापस जाने के लिए भी अब कोई ट्रेन नहीं है। रात के बारह बजे के बाद 'महाराष्ट्र बन्द' का आह्वान है। ऐसी दशा में न तो कोई ट्रेन चलेगी और न बस या कार ही मिलेगी। न मैं उज्जैन पहुंच सकूंगा और न घर ही। प्रभात जी, यदि आपको दादर स्टेशन पर फ्रंटियर मेल के रुकने की सही सूचना नहीं थी तो हमें सात बजे तक घर पर व्यर्थ ही क्यों रोके रखा? मेरा फ्रंटियर का टिकट भी बेकार गया। 'महाराष्ट्र बन्द' के कारण मैं उज्जैन तार भी नहीं भेज सकूंगा। मैं तो बड़ी परेशानी में पड़ गया हूं।"

उस वातावरण में दीक्षित जी की झुंझलाहट मुझे बड़ी सार्थक मालूम दे रही थी। इस झुंझलाहट में स्नेह और रोष दोनों का अद्भुत मिश्रण था। कर्तव्यपालन तो हुआ ही नहीं, नींद, आराम, सुख-चैन सब हराम हो गए। डेढ़ सौ रुपये का टिकट भी बरबाद हुआ। दीक्षित जी के कथन में घबराहट के साथ बच्चों जैसी आतुरता, उद्वेग और अकुलाहट थी जिसे देखकर मैं और शशिकान्त दोनों ही व्यग्र हो उठे थे।

ऐसी उद्वेगमयी स्थिति में, प्रभातजी, आप ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो अनुद्विग्न, शान्त, सुस्थ, स्थितप्रज्ञ और कर्तव्योन्मुख बने हुए थे। आप ही उस हारी बाज़ी को जीतने के लिए प्रयत्नशील थे। आपके चेहरे पर नैराश्य और हतोत्साह का कोई चिह्न नहीं था। मैं चकित भाव से बार-बार आपके मुख की ओर देखता और इस आशा से देखता कि आप दीक्षित जी के प्रति

समवेदना के दो शब्द कहकर उन्हें सांत्वना देंगे किन्तु आप समवेदना के स्थान पर उन्हें साहस बंधा रहे थे। धैर्यपूर्वक परिस्थिति से जूझने का आग्रह कर रहे थे।

आप दीक्षित जी को समझा रहे थे कि "फ्रंटियर मेल छूट जाने से उनका कुछ बिगड़ा नहीं है। एक घंटे बाद इसी मार्ग से देहरादून एक्सप्रेस जाती है जो एक बजे नागदा पहुंचती है और वहां से तीन बजे उज्जैन के लिए ट्रेन है। इस प्रकार पांच बजे तक उज्जैन पहुंचने में कोई दिक्कत नहीं है।" दीक्षित जी से इतना कहकर आप देहरादून एक्सप्रेस के कंडक्टर गार्ड के पास पहुंचे और इस प्रयत्न में जुट गए कि फ्रंटियर मेल के टिकट से ही देहरादून एक्सप्रेस में उनकी यात्रा का प्रबंध हो। सामान्यतः जिस ट्रेन में आरक्षण कराया जाता है, यात्रा की सुविधा उसी में होती है। लेकिन आपने काले कोटधारी कंडक्टर को समझाया और बताया कि "डा० दीक्षित कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, वी० आई० पी० हैं। सरकारी काम से उज्जैन यूनिवर्सिटी जा रहे हैं। कुली की कमजोरी से फ्रंटियर मेल निकल गई; नालायक कुली न होता तो उसी ट्रेन से यात्रा करते।" काला कोट आपकी बात सुनी-अनसुनी करता रहा। उसका नकारात्मक उत्तर, वाणी से कम और सिर हिला कर निषेध के रूप में साफ जाहिर होता था। काले कोट का नकारना क्या अर्थ रखता है, यह आप भली भांति जानते हैं इसलिए उसके निषेध को आपने प्रच्छन्न स्वीकार में ग्रहण किया। काले कोट वाले भी सफेद पोश की भाषा को बखूबी समझते हैं। काले कोट को काले पैसे का नुसखा याद है। सफेद पोश से कैसे काला पैसा लिया जाता है इसे वह खूब जानता है। काले कोट की जेब में रोज़ ही पचासों रुपये के नोट अपने आप मुट्ठी बन्द किए चले जाते हैं। ब्लैक कोट के साथ ब्लैक मनी का शाश्वत रिश्ता तो रेलवे ने शायद स्वयं जोड़ दिया है। आपके लिए यह धर्म-संकट का प्रश्न था। काला कोट यदि तैयार न हुआ तो आपकी सारी योजना व्यर्थ साबित होगी।

आप दीक्षित जी को मानसिक स्तर पर तैयार कर रहे थे कि वे देहरादून एक्सप्रेस में फ्रंटियर मेल के टिकट से ही यात्रा करें। यह अवैधानिक नहीं, सर्वथा नियमानुकूल है। दीक्षित जी का आग्रह था कि वे काले कोट की पूर्ण स्वीकृति—संवैधानिक स्वीकृति—के बिना यात्रा नहीं करेंगे। साथ ही उनका यह भी कहना था कि वे काले कोट की जेब को गर्म करने की प्रक्रिया से भी नहीं जुड़ेंगे। दीक्षित जी अपने आग्रह पर दृढ़ थे ठीक वैसे ही जैसे नचिकेता, यम के सारे प्रलोभनों को ठुकराकर मृत्यु का रहस्य जानने को अपने निश्चय पर अडिग था। आपकी मनुहार से काला कोट थोड़ा सा पसीजा तो दीक्षित जी अकड़ गए। बड़ी विचित्र स्थिति थी। देहरादून एक्सप्रेस के छूटने

में केवल पांच मिनट बाकी थे और यम-नचिकेता संवाद अभी समाप्त नहीं हुआ था।

आपने दीक्षित जी को प्रबोधते हुए कहा—"हे दीक्षित जी, रात के बारह बजे के बाद 'महाराष्ट्र बन्द' है। यातायात ठप्प हो जाएगा। आप न घर के रहेंगे न बाहर के। आप फ्रंटियर मेल के टिकट से ही देहरा एक्सप्रेस में यात्रा करें। मैंने काले कोट को मना लिया है। अभी एक सीट वह आपको दे रहा है। सूरत पहुंचने पर पूरी बर्थ मिल जाएगी। आपका वैधानिक आरक्षण होगा। काला कोट ही यह सब करेगा। आपको कुछ भी गलत काम नहीं करना है। 'बीति ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेइ'—की कहावत पर ध्यान दें और सामान लेकर प्रथम श्रेणी के इसी डिब्बे में सानन्द प्रवेश करें।"

यह आपका 'सरमन ऑन द प्लेटफार्म' था जिसने बिगड़े काम को साधा था। आपने विवेक, धैर्य और प्रत्युत्पन्नमति से काम लिया और दीक्षित जी की उज्जैन यात्रा फ्रंटियर मेल से न होकर कालिदास के मेघ देहरा एक्सप्रेस से सम्पन्न हुई। मार्ग के सुन्दर दृश्यों का अवलोकन करते हुए दीक्षित जी दूसरे दिन चार बजे उज्जयिनी में प्रविष्ट हुए। सारा विषाद, अवसाद, खेद और नैराश्य आपकी सूझबूझ और स्थितप्रज्ञता से हर्ष और उल्लास में बदल गया। हम लोग तो दीक्षित जी की पीड़ा से व्यथित ही बने रहे, उससे मुक्ति पाने का कोई उपाय न कर सके। आपने दीक्षित जी को पीड़ामुक्त किया, कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ किया और उनके संवेदनशील भावुक मन को शान्त-स्निग्ध भी बनाया। तब मैं यह कैसे कहूं कि आप धीर, वीर, गंभीर और स्थितप्रज्ञ नहीं हैं।

मैंने बात यहां से शुरू की थी कि आपके लिए आना-जाना, मिलना-बिछुड़ना सब सामान्य होता है। इनमें कुछ भी संवेदनशील या सम्मोहक नहीं होता। यह सचमुच बड़े आत्मसंयम और इन्द्रिय निग्रह की देन है। आपका यह संयम, यह धैर्य, यह स्थिरचित्तता मुझे अच्छी लगती है। दीक्षित जी की ट्रेन छूटने की घटना का उल्लेख मैंने उदाहरणार्थ किया है। कुछ विस्तार बेशक हो गया किन्तु दो वर्ष पहले की घटना को याद करने में मुझे श्रम नहीं पड़ा। मैं इसे ऐसे लिख रहा हूं जैसे कि यह कल ही घटी हो। आत्म-संयम और स्थिर-चित्तता नैसर्गिक गुण हैं, यदि उपार्जित हो सकते तो मैं भी इन्हें जुटाता, लेकिन प्रकृति का नियम, विधि-विधान हमारे हाथ में कहां है! हम तो प्रकृति के शासन में चलते हैं। जो कुछ उसने हमें दिया वह शिरोधार्य है, जो नहीं दिया उसकी कामना करने से क्या लाभ!

'दीक्षित जी की ट्रेन का छूटना'—एक छोटी सी घटना है किंतु कभी-कभी छोटी सी बात में बड़ा रहस्य छिपा होता है। मैंने इसी घटना से

विषम स्थिति में शान्त, संयमित, अनुद्विग्न एवं स्थिरचित्त रहने का पाठ पढ़ा है। दीक्षित जी की कृपा से ही यह लम्बा पत्र लिखा जा सका अतः उनका भी स्मरण मन ही मन कर रहा हूं।

आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न हैं। सस्नेह,

आपका
विजयेन्द्र स्नातक

डा० प्रभात
२/ए, बेवर्ड, शीतल देवी मन्दिर मार्ग
माहिम, बम्बई

बधाई-पत्र

संदर्भ

यह पत्र डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, प्रोफेसर हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर को उनके प्रोफेसर पद पर नियुक्त होने पर बधाई-पत्र के रूप में लिखा गया था। उनके प्रोफेसर बनने की सूचना मुझे विलम्ब से मिली थी।

प्रोफेसर होना विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के लिए गौरव और गर्व की बात है किन्तु जब यह पद प्राप्तकर्ता को बहुत विलम्ब से मिलता है तो उसका उत्साह ठंडा पड़ जाता है। उसके भीतर उल्लास और उमंग का सागर तरंगायित नहीं होता। प्रसन्नता की हल्की सी हिलोर उठकर समाप्त हो जाती है। डा० उपाध्याय को प्राध्यापकीय जीवन की संध्या में यह पद मिला तो उनमें हर्ष का पारावार कैसे तरंगित हो! कुछ ऐसे सौभाग्यशाली भी होते हैं जो बिना किसी प्रकार के वैदुष्य के इस बटेर को जाल में फंसा कर जवानी में ही प्रोफेसर होने का गौरव हासिल कर लेते हैं। इसी संदर्भ को कुछ व्यक्त-अव्यक्त भाषा में मैंने इस पत्र में लिखा है, अन्त में अपनी बात भी कही है जो अप्रासंगिक लगने पर भी कहीं न कहीं प्रासंगिक भी है।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
२८-७-७६

प्रिय भाई उपाध्याय जी,

सप्रेम नमस्ते। जिस प्रकार आपकी प्रोफेसर-पद प्राप्ति देर आयद दुरुस्त आयद है उसी प्रकार मेरी विलम्ब से प्राप्त बधाई को आप दुरुस्त समझें और स्वीकार करें। मेरी बधाई नितान्त हार्दिक है, औपचारिक कतई नहीं, अतः इसमें देर-सबेर का सवाल नहीं उठता। मेरी बधाई हर्षोल्लास की बधाई है, प्रेम-पुलक की सच्ची बधाई है।

जीवन की लम्बी यात्रा में बहुत से उतार-चढ़ाव देख लेने के बाद कुछ भी रहस्यमय या गोपनीय नहीं रह जाता। लेक्चरर, रीडर, प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष आदि शब्दों की ध्वनियां अपना सारा आकर्षण खोकर जब पास आती हैं तब इन शब्दों पर ही दया आने लगती है। ये शब्द शरणागत से लगते हैं और शरणागत को प्रश्रय तो देना ही पड़ता है। प्रोफेसर शब्द अगर डा० विश्वम्भर-नाथ उपाध्याय के नाम के साथ जुड़ा है या व्यवस्था द्वारा जोड़ा गया है तो उसे दुत्कारना नहीं है। वह तो अब अवकाश ग्रहण करते समय शरणागत होकर आया है। दो-चार वर्ष साथ रह लेगा—आपका क्या बनायेगा, क्या बिगाड़ेगा। इसे स्वीकारें और नाम के साथ जुड़ने दें। स्मरण रहे, आपके लिए यह शब्द अब गर्व और गौरव के साथ छाती फुलाने या फूलकर कुप्पा हो जाने लायक नहीं रह गया है क्योंकि इस दर्प के सीमांकन से आप आगे छलांग लगा चुके हैं। एक तरह से इस शब्द की मोहिनी शक्ति—चार्म—को आप चरमरा कर अपने तईं समाप्त हुआ समझें। लेकिन अध्यापक की महत्त्वाकांक्षा में प्रोफेसर पद कहीं न कहीं कसमसाता है, उसे कुरेदता और लालायित करता है इसीलिए देर-सबेर जब भी यह आता है इसे सहेजना ही पड़ता है। आप भी नया प्रोफेसर पद का पैड छपवा कर इसे अपनाइए।

मुझे आपके विश्वविद्यालय की चयन-समिति के निर्णय की सूचना देर से मिली। पक्की और सही सूचना तो कल ही मिली थी। हर्ष होना स्वाभाविक था। हर्ष को आप तक सम्प्रेषित करने की उत्कंठा मन में हुई तो पत्र लिखने बैठ गया। पहला विचार प्रसन्नता की अभिव्यक्ति का और दूसरा विवेक से इस उपलब्धि के विश्लेषण का है। इसे मैं 'सैकिंड थाट' कहता हूं। मैंने जब इसका विश्लेषण किया तो लगा कि यह प्रोफेसर पद डा० उपाध्याय की अध्यापकीय महत्त्वाकांक्षा का पूरक भले ही हो किन्तु यह न तो उनके किसी

बड़प्पन का द्योतक है और न उनकी अस्मिता को अंहकार से भरने वाला ही। अपने पुरुषार्थ से मंजिल तक पहुंचे व्यक्ति को बैसाखी का सहारा कौन सा सहारा है ! हां, मन बहलाने को यों समझ सकते हैं कि थके-मांदे व्यक्ति के हाथ में बैसाखी का सहारा सुस्ताने और विरमाने में कुछ काम दे सकता है। यही सोचकर इस प्रोफेसरी की बैसाखी को थामे रहें। इसके सहारे अब चलना तो क्या होगा, फिर भी धक्का देने वाले सोचेंगे कि उपाध्याय को धकेलो मत, इसके हाथ में भी बैसाखी है !

हमारे यहां पदों का महत्त्व है। प्रोफेसर और अध्यक्ष नाम से आतंकित करने का चलन है। कैसे-कैसे लोगों के हाथ यह बटेर लगी है, यह लिखना व्यर्थ है। आचार्य जी ने क्या पढ़ा और क्या लिखा है यह जानते हुए भी लोग पद को पदार्थ से जोड़कर अभिभूत रहते हैं। मुझे विश्वास है कि आप इस पद के साथ कोई आतंक जोड़ने का प्रपंच नहीं करेंगे क्योंकि पढ़ने-लिखने से आपका नाता-रिश्ता अभी बरकरार है।

उपाध्याय जी, अदब की आशिकी बड़ी चीज़ है। उसमें डूबने से जो मज़ा मिलता है वह चाटुकारिता से उपलब्ध थोथे पदों में कहां है ! थोथा चना बाजे घना तक तो ठीक है। आगे उस चने की पोल क्या छिपाये छिपती है। आपने प्रतिकूलता से जूझना जाना है, पढ़ने-लिखने को ही सच्चा पद-पदार्थ माना है अतः यह मज़ा आपके लिए सुलभ है :

आशिकी से मिलेगा ऐ जाहिद,
बन्दगी से नहीं खुदा मिलता।

बात सोलह आना सही है, साहित्य पर घटा कर देख सकते हैं। मैंने अपने संघर्षपूर्ण जीवन में बन्दगी नहीं की—न खुदा की और न किसी ऐरे-गैरे नत्थू खैरे की। मुझे मेरा खुदा मिला—वह मिला तो अदब की आशिकी से मिला। आपका रास्ता भी यही है और आप बेफिक्र रहें, आपको भी इसी राह से आपका खुदा मिलेगा।

मैंने अपने अध्यापकीय जीवन के ४१ वर्ष पूरे कर लिए। अब ४२वें वर्ष में एड़ियां घिस रहा हूं। पांच महीने का वक्त और बाकी है। वह भी कट ही जाएगा। दिल्ली विश्वविद्यालय में ३३वां वर्ष है। हिन्दी-विभाग के खुलते ही यहां आ धमका था। अंग्रेज वाइस चांसलर मौरिस ग्वायर से लेकर अब तक दस हिन्दुस्तानी कुलपतियों को देख चुका हूं। हिन्दी विभाग के सभी पदों पर रह चुका हूं। विभागाध्यक्ष की कुर्सी पर भी सात वर्ष तक जमा रहा हूं। इस विभाग में एम० ए० हिन्दी कक्षा का प्रारम्भ सन् १९४७ में हम तीन व्यक्तियों ने किया था। एक साथी डा० राकेश गुप्त तो एक वर्ष बाद ही दिल्ली की गलियां छोड़कर काशी चले गये दूसरे साथी श्रीमती सावित्री सिन्हा स्वर्ग सिधार

गई। सम्प्रति इस विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की सन् १९४७ से शुरू हुई कहानी का ज्ञाता-वक्ता एकमात्र मैं ही शेष हूं। बहुत देखा, बहुत सीखा—बहुत पाया, बहुत खोया—शेष क्या बचा इसका लेखा-जोखा करना अभी शेष है। कभी बैठूंगा और टूटी कड़ियां जोड़कर बत्तीस वर्ष का इतिवृत्त तैयार करूंगा। साहित्य वह नहीं होगा, इतिहास भी नहीं होगा, लेकिन जो कुछ भी ऊल-जलूल होगा; होगा वह पठनीय ही। मननीय भले ही न हो।

अभी पांच महीने अवकाश ग्रहण करने में बाकी हैं। मन आज़ाद होने के लिए तड़पने लगा है। सेवा-निवृत्त होने को बेचैन है। एक ऐसी छटपटाहट है जो २२ दिसम्बर पकड़ने के लिए कलेंडर के पांच पन्ने फाड़ डालने को कहती है। अब नौकरी से चिपटने का मन नहीं है, छूटने की जल्दी है।

आज़ाद कब करे हमें सैयाद देखिए।
रहती है आँख वावे कफ़स पर लगी हुई।।

आपको बधाई का खत लिखने बैठा था और अपनी दास्तां कहने लगा। अपनी कहानी के पन्ने पलटने की धृष्टता के लिए माफी मांगता हूं। क्या करूं, मन की तरंग में जब कभी खत लिखता हूं तो ऐसी बेअदबी अक्सर कर बैठता हूं। लेकिन मेरे दोस्त मुझे माफ कर देते हैं आप भी माफ कर देंगे, ऐसी उम्मीद है।

अच्छा प्रोफेसर साहब, एक वार पुन: बधाई स्वीकार कीजिए। सस्नेह,

आपका,
विजयेन्द्र स्नातक

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

जीवनानुभव : संघर्ष, प्रयत्न और पुरुषार्थ की प्रेरणा

संदर्भ

मैंने अपनी पुत्री स्नेह सुधा को यह पत्र अपने जन्मदिन के अवसर पर खिन्न मनःस्थिति में लिखा था। सुधा ने ही मेरे जन्मदिन का आयोजन किया था और उसकी प्रसन्नता के लिए मैंने इस आयोजन में शरीक होना स्वीकार कर लिया था। यों सामान्यतः मैं जन्मदिन को उत्सव या समारोह के रूप में कभी नहीं मनाता। इस पत्र में मैंने अपने शैशव और यौवन की एक हल्की सी झांकी प्रस्तुत की है। मेरा यह सिंहावलोक पत्र में कुछ अटपटा भी लग सकता है किंतु जिस परिस्थिति में मैंने यह पत्र लिखा था, उसकी यह अनिवार्यता थी। मैं अपने संघर्षमय जीवन की एक झलक देना चाहता था और अपनी संतान को यह बताना चाहता था कि मैं अब आयु की प्रौढ़ि पर पहुंच गया हूं। मैंने जीवन को छोटा महाभारत मान कर जिया, झेला और लड़ा है। किसी सुख-सुविधा का जीवन मैंने नहीं भोगा और आज चौंसठ वर्ष की आयु में भी मैं उसी प्रकार संघर्षरत हूं। तुम लोग इस संघर्ष को पहचानो और सहर्ष स्वीकारो, यही मेरा आशीर्वाद है।

स्नातक-सदन
ए-५/३, राणा प्रताप बाग
दिल्ली-७
२३-१२-७८

प्रिय बेटी सुधा,

सौभाग्यवती रहो। अपने जीवन के चौंसठ वर्ष मैं आज पूरे कर रहा हूं। इस जन्मदिन पर आज प्रातःकाल से ही मैं उन सभी व्यक्तियों का रह-रह कर स्मरण करता रहा हूं जो मेरे परिवार के अंग हैं। माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी, पुत्र-पुत्रियां, जामाता तथा अन्य सभी सगे सम्बन्धी आज मेरे मन में उभरते रहे हैं। सबकी स्मृतियां मुझे स्नेह-विह्वल कर रही हैं। मां और बड़े भाई आज इस संसार में नहीं हैं, शेष सब अपने-अपने काम-धन्धों में संलग्न हैं। स्मृतियों के अम्बार में मैं दब गया हूं। ये स्मृतियां मुझे पीछे धकेल कर वहां ले जाना चाहती हैं जहां की यात्रा पूरी कर मैं आगे बढ़ आया हूं। पहली मंजिल पीछे छूट गई है। नई मंजिल अभी धुंधलके में छिपी है।

इस लम्बी जीवन-यात्रा में प्रयत्न, पुरुषार्थ, द्वन्द्व और संघर्ष की जिन उच्चावच पगडंडियों से मैं गुज़रा हूं उनका थोड़ा-बहुत परिचय तुम्हें है। तुम्हें यह पता है कि एक-एक कदम आगे बढ़ने के लिए मुझे कितना संघर्ष करना पड़ा है क्योंकि मैं चांदी की चम्मच मुख में लेकर पैदा नहीं हुआ था। इस जूझने में अपने परिवार और संतान के लिए वह सब कुछ मैं नहीं कर सका जो सामान्यतः करणीय होता है। आज का युग संतान के उत्कर्ष के लिए वह सब करणीय मानता है जिसके द्वारा सन्तान ऊंचे पदों पर पहुंचती है। इस करणीय में न तो कोई नैतिक या सामाजिक मूल्य होता है और न कुछ निषिद्ध ही माना जाता है। मैं इस मूल्य-विहीन ऋजुमार्ग को नहीं अपना सका। स्वार्थ साधन के लिए मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया जो कर्तव्य की मर्यादा में हेय और नीति के मार्ग में निम्नस्तरीय हो। हो सकता है मेरी यह नीति-निष्ठा मिथ्या आत्माभिमान या दंभ की भावना हो और इसी कारण तुम लोगों को सदैव हानि उठानी पड़ी हो; लेकिन मुझे इतना संतोष है कि मैंने अपनी संतान को अथवा स्वयं अपने को आगे बढ़ाने के लिए बेईमानी, छल-कपट, प्रपंच, षड्यंत्र नहीं किया। गलत तरीकों का सहारा न लेने से मेरी संतान ऊंचे पदों पर नहीं पहुंच सकी, उसे भावी जीवन में अपार कष्टों का सामना करना होगा। मेरे पुत्र मुझे कोसते हैं और आगे भी कोसेंगे क्योंकि मैंने उनके लिए, उनके भविष्य-निर्माण के लिए वह सब नहीं किया जो

मेरे साथी अपनी संतति के उत्कर्ष के लिए करते रहे हैं। मैंने उन्हें परीक्षाओं में अनुचित उपायों से प्रथम श्रेणी तक नहीं पहुंचाया और न जीविका के लिए इधर-उधर से सिफारिशें जुटाकर कोई काम दिलाया। मैं पूर्ण आस्तिक या नियतिवादी न होने पर भी नियति के भरोसे बैठा रहा। निष्ठा की जोत बुझी नहीं लेकिन उस जोत से मेरे परिवार को प्रकाश नहीं मिला। यह नीति-निष्ठा मेरी विवशता है, लाचारी है जो आत्मीय जनों के लिए हितावह सिद्ध नहीं हुई।

लेकिन एक बात मैं तुम्हें बताता हूं, जो नितान्त सच है कि मैंने इस नीति मर्यादा को दूसरे लोगों के लिए मूल्य या मानदंड नहीं माना। फलतः दूसरों के लिए क्या-क्या नहीं किया वह लिखने की बात नहीं है। अभी प्रायश्चित्त की घड़ी नहीं आई है, जिस दिन प्रायश्चित्त की घड़ी आएगी, मैं तुम्हें अपनी अनीति और अनास्था की बात बताऊंगा। मैंने एक नहीं अनेक लोगों के लिए सीढ़ी का काम किया है जिसके डंडों पर पैर रखकर उनकी संतान उन्नति के गिरिश्रृंग पर चढ़कर चमक रही है।

मेरे पिता ने भी मेरे उत्कर्ष के लिए कभी कोई सिफारिशी मार्ग नहीं अपनाया था। उन्होंने मुझे कभी पिछले द्वार से आगे नहीं बढ़ाया। मेरी पूरी जीवन-यात्रा निरवलम्ब, मेरी अपनी दो दुर्बल टांगों से पूरी हुई है। मैंने अपने जीवन में सात-आठ जगह काम किया। किसी भी स्थान पर काम करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति का सिफारिशी पत्र, परिचय-पत्र, सहायता का आश्रय नहीं लिया। मेरा ऐसा स्वावलम्बी स्वभाव बन गया है कि किसी दूसरे के भरोसे मैं किसी काम के लिए निर्भर नहीं रहना चाहता। अपने छोटे-बड़े सभी कामों को स्वयं करने के कारण मैं यह मानने लगा हूं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना काम खुद ही करना चाहिए। पराश्रित रहना परतंत्रता का ही प्रतिरूप है। कहावत मशहूर है—"कीचड़ में डूबी अपनी गाड़ी के पहिए पर अपना कंधा लगाओ तभी गाड़ी का उद्धार होगा।" इसीलिए अपने अध्ययन-कक्ष को झाड़ते समय मैं तुम लोगों से परिहास में कहा करता हूं कि झाड़ू लगाने से लेकर ईश्वर प्राप्ति तक सभी काम मुझे स्वयं ही करने हैं। ईश्वर प्राप्ति तो संभव नहीं—लेकिन हां, कमरा अवश्य साफ-सुथरा दिखाई देने लगता है।

स्वावलम्बन विषयक मेरी यह मान्यता व्यावहारिक स्तर पर शायद सही न हो क्योंकि मनुष्य को दूसरों का सहारा तो लेना ही होता है; मनुष्य सामाजिक प्राणी है. समाज में रहता है, सामाजिक होने के नाते उसे दूसरों से सम्पर्क और सहयोग अपेक्षित होता है। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। यह सब जानते हुए भी मैं अकेला ही चलता रहा हूं। संभवतः इसीलिए

जीवन में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका, संतान को भी ऊंचे पदों पर नहीं बैठा सका। यदि मैं कुछ अधिक व्यवहारकुशल होता तो तुम लोग बड़े पदों पर होते, सूर्यकान्त और शशिकान्त भी अफसर बन गए होते और मैं आयु की प्रौढ़ि में निश्चिन्त होकर रिटायर्ड जीवन का सुख-संतोष प्राप्त कर रहा होता। लेकिन विधि का विचित्र विधान है, दोनों बेटे सामान्य शिक्षित और पूर्णतः बेरोज़गार हैं। उनके भविष्य की मुझे निरन्तर चिन्ता रहती है। इस चिन्ता में डूबा हुआ भी मैं सिफारिश या खुशामद का मार्ग नहीं अपना सकता। मुझे लगता है कि मेरे जीवन की यह असफलता मेरी नैतिक मान्यता को, जिसे स्वीकार कर मैं अब तक चलता रहा हूं—व्यर्थ और थोथा साबित कर देगी और शायद मेरे बाद मेरी संतान मुझे इस मिथ्या आदर्शवाद के लिए क्षमा नहीं करेगी।

लेकिन इस पत्र द्वारा मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूं कि मैंने यह मार्ग किसी आदर्शवाद, मर्यादावाद या नीतिवाद की प्रेरणा से स्वीकार नहीं किया था। मैं आदर्शवादी नहीं हूं। धर्मात्मा या महात्मा भी मैं नहीं हूं, सामान्य स्तर के मानव की समस्त कमज़ोरियां मुझ में हैं और मैं उनसे अपरिचित नहीं हूं। मैं दूसरों के लिए नीति, धर्म, सत्य और निष्ठा से कैसे दूर रहा हूं इसका संकेत मैंने ऊपर की पंक्तियों में किया है। मेरा जीवन इस दृष्टि से विरोधाभासों का अच्छा खासा जमघट है जिसमें नीति और अनीति का विचित्र सामंजस्य घटित होता रहा है। मैंने परोपदेश में पांडित्य प्रदर्शन नहीं किया, अपने घर में उसे चरितार्थ कर कष्ट उठाया है।

एक बात जो मैं तुमसे आज विशेष रूप से कहना चाहता हूं वह यह है कि मेरी जीवन-यात्रा भरे-पूरे परिवार के बावजूद निपट एकाकी रही है। भीतर से शून्य और बाहर से परिपूर्ण दीखने वाला मैं तुम लोगों के सामने अपनी दिनचर्या का जो अभिनय करता रहा हूं उसे तुम लोगों ने भले ही सफल समझा हो लेकिन सच यह है कि मैं नितान्त अकेला चला हूं और आज भी चल रहा हूं। संगी-साथी के लिए जब-जब आंख दौड़ाई है तो पाया कि मेरी अपनी दो दुर्बल भुजाएं ही मेरे साथ हैं, यही मेरी सम्बल हैं, सहारा हैं। इनके बल पर यह भवसागर पार कर सकते हो तो करो, किसी और का सहारा ताकने से कुछ नहीं मिलेगा। समाज के दिए सारे आश्रय और सम्बल मेरे लिए बेमानी और व्यर्थ साबित हुए। मैं यह बात व्यक्त भाषा में आज तुम से कह रहा हूं, यदि तुम इसके फलितार्थ तक पहुंच सकोगी तो मेरी एकाकी यात्रा की मर्मकथा तुमसे छिपी न रहेगी।

जीवन-यात्रा के दुर्गम पथ को मैंने अपनी अल्प बुद्धि और सीमित शक्ति से कैसे पार किया इसकी छोटी सी झांकी मैं दो-चार वाक्यों में तुम्हें दिखाना

चाहता हूं। आठ वर्ष की अल्पायु में मैं गुरुकुल में पढ़ने चला गया था। माता-पिता की वात्सल्यमयी गोद का आश्रय मैंने उसी आयु में छोड़ दिया था। मेरे पिता उसी संस्था में प्रभावशाली अध्यापक थे किन्तु उनका होना या न होना मेरे लिए किसी संदर्भ में सार्थक नहीं था। यदि वे चाहते तो मुझे सहारा देकर कुछ और अच्छा विद्यार्थी बना सकते थे किन्तु उन्होंने कभी यह माना ही नहीं कि उनका पुत्र भी इस संस्था में पढ़ता है। सच तो यह है कि उन्होंने मुझे अन्य छात्रों से अलग कभी पहचाना ही नहीं। फलतः घर और घर के परिवेश से कटकर मैं आश्रमवासी विद्यार्थी बन गया। मेरा सहारा अब केवल 'स्वावलम्बन' ही था। यही मेरा साथी-संगी, यही मेरा भाग्यविधाता। एक तरह से मैं यह भूल ही गया कि मेरे पिता इस संस्था के प्रमुख व्यक्ति हैं और उनका पुत्र होने से मैं किसी लाभ की स्थिति में हो सकता हूं। इसी बिन्दु से मेरे भीतर आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन की चेतना का उदय हुआ।

मैं गुरुकुल में सन् १६२१ से १६३४ तक रहा। गुरुकुलीय जीवन में मैं आठवीं कक्षा तक साधारण कोटि के छात्रों में गिना जाता था। खेल-कूद के साथ पत्र-पत्रिकाएं तथा निर्धारित पाठ्यक्रम से बाहर की पुस्तकें पढ़ने का मुझे शौक था। यह शौक आज भी मेरे साथ लगा हुआ है। सौ रुपये के नोट और सौ रुपये की किताब में से चयन करना हो तो आज भी मेरा मन सौ रुपये की किताब लेने को करता है—बशर्ते किताबें मेरी रुचि की हों। वैसे आज की मेरी व्यवहार बुद्धि इस चयन को मूर्खता समझती है फिर भी ऐसी मूर्खता करने का मन मरा नहीं है। उसका नतीजा तो तुम मेरे कमरे में ठसाठस भरी किताबों को देखकर निकाल सकती हो।

हां, आठवीं कक्षा के बाद मेरा ध्यान कोर्स की पुस्तकों की तरफ गया क्योंकि उनकी उपेक्षा करने से परीक्षा पर घातक प्रभाव पड़ रहा था। फिर भी कोर्स की सभी पुस्तकों को मैं समान रूप से स्वीकार नहीं कर सका। साहित्येतर विषयों में मेरा मन नहीं रम सका और गणित तो मेरे लिए दुर्गम शिखर था जिसकी चोटियों पर मैं कभी नहीं चढ़ सका। चोटी पर चढ़ने की बात तो दर किनार, मैं गणित की तलहटी में भी भ्रमण करने योग्य नहीं बन पाया। बीजगणित मैंने दो वर्ष पढ़ा लेकिन मुझे उसके दो फार्मूले भी समझ में नहीं आए। मेरी इस अयोग्यता में विरोधाभासमूलक विडम्बना यह थी कि मेरे पिता गणित के अच्छे ज्ञाता माने जाते थे। हिन्दी साहित्य के साथ उनकी प्रतिभा का एक क्षेत्र गणित भी था किन्तु उनकी प्रतिभा का लाभ मैं नहीं उठा सका। धर्म-शिक्षा जैसे नीरस विषय में भी मेरी रुचि नहीं थी किन्तु परीक्षा-भय से ज्यों-त्यों करके इसे स्वीकार कर लिया था। हां, हिंदी और अंग्रेज़ी में मैं अपनी कक्षा का सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी था। बाद

में अंग्रेज़ी में मेरी ऐसी गहरी रुचि हुई कि मैं कक्षा के स्तर से भी ऊंची पुस्तकें पढ़ने लगा था और उन दिनों 'माडर्न रिव्यू' जैसे उच्चस्तरीय अंग्रेज़ी मासिक को भी समझने लगा था। उसकी कहानियां मैं बड़े मज़े से पढ़ लेता था।

दसवीं कक्षा के बाद मेरा विद्यार्थी जीवन एकदम बदल गया। मैं प्रथम श्रेणी का श्रेष्ठतम छात्र बन गया या माना जाने लगा। मेरे अंग्रेज़ी के अध्यापक तो जिस दिन मैं कक्षा में अनुपस्थित रहता, उस दिन पढ़ाते ही नहीं थे। फलतः मैंने सभी कक्षाओं में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। विद्या परिषद् का मंत्री बना। भाषण प्रतियोगिताओं में एक दर्जन से अधिक पुरस्कार प्राप्त किये। गुरुकुल की दुर्लभ पुरस्कार योजना 'रजत-पुस्तक' को चार वर्ष तक निरन्तर भाषण प्रतियोगिता में जीत कर स्वायत्त किया, जो आज भी मेरे पास है। सन् १९३२-३३ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की भाषण प्रतियोगिता में भाग लेने गया और पुरस्कार जीता। इन समस्त छोटी-बड़ी उपलब्धियों में मैंने कभी किसी का सहारा नहीं लिया, किसी से संस्तुति नहीं करायी, किसी की चाटुकारिता से पथ प्रशस्त नहीं किया, किसी बड़े कहे जाने वाले 'महाजन' का पल्ला नहीं पकड़ा। जो कुछ पाया अपने पुरुषार्थ से पाया, निष्ठा और लगन से पाया। स्मरण रहे कि सफलता के इन सोपानों पर पहुंचने में अनेकानेक विघ्न-बाधाएं निरन्तर आती रहीं। बिल्ली के भाग्य से छींका कभी नहीं टूटा। अटूट परिश्रम और अगाध विश्वास के साथ मैंने ध्येय तक पहुंचने के लिए केवल अपनी दो भुजाओं को सुदृढ़ बनाए रखा। भुजाओं में खम नहीं आया। मेरा मन बार-बार सचेत करता रहा और कहता रहा—"दृढ़ रहो, मुश्किलें आसान हो जाएंगी और विघ्नों की विशाल पर्वत-श्रेणियां सीढ़ी का काम देंगी।" और सचमुच ही मैं इन विघ्न-बाधाओं की दुर्लंघ्य श्रेणियों को पार कर यहां तक की यात्रा तय कर पाया हूं। मेरे अपने दो हाथ ही मेरा सहारा हैं, मेरी सिफारिश हैं, मेरा सम्बल हैं, मेरे सच्चे साथी हैं। आज भी जब मैं किसी बड़े उद्यम के लिए प्रयत्नशील होता हूं तब अपनी इन्हीं दो भुजाओं को अवलम्ब के रूप में पाता हूं। चौंसठ वर्ष के इस जीवन में मेरी ये दो दुर्बल भुजाएं ही मुझे सबल और सक्षम बनाए हुए हैं।

मैं यह भली भांति जानता हूं और मानता हूं कि मैंने इस छोटे से जीवन में कोई महान् कार्य नहीं किया। महान् कार्य तो महापुरुष ही करते हैं। मेरे जैसे अकिंचन से बड़े काम की आशा कोई नहीं करेगा। लेकिन मुहावरा तो 'आप काज महा काज' का है, अर्थात् जो छोटा-मोटा नगण्य काम मैंने अपने जीवन में किया मेरे लिए तो वही महा काज या महान् कार्य है। इसलिए कोई बड़ा काम किये बिना भी मैं अपनी तुच्छातितुच्छ उपलब्धियों को महान् मानकर मन ही मन मुदित हो लेता हूं। मन ही तो है—मालूम नहीं कब किस

छोटी सी नगण्य उपलब्धि पर फूलकर कुप्पा हो जाय। भोला बालक मिट्टी के घरौंदे को राजमहल, प्लास्टिक के हाथी को मत्त गयंद, टीन के शेर को वन-राज व्याघ्र, कागज़ की सुनहरी चिड़िया का सोन चिरैया और खपच्ची के तीर कमान को रावणवध का राम-धनुष मान कर जैसे मन बहलाव करता है क्या वैसे ही मैं इन छोटी-मोटी, तुच्छ और नगण्य उपलब्धियों पर गर्व का अनुभव नहीं कर सकता ?

अस्मिता बुरी चीज़ नहीं है; आत्मबोध के लिए अस्मिता की पहचान सही पहचान है किन्तु आत्मबोध जब भ्रमित होकर दर्प-दंभ के दायरे में पहुंच जाता है तब अस्मिता को भी ले डूबता है। अस्मिता की आंच का जब अहंकार के आंवे में हवा देकर गरमाया जाता है तब उसमें से दर्प और गर्व की लाल-पीली लपटें निकलती हैं जो और किसी को संताप दें या न दें, अभिमानी को अवश्य दग्ध कर देती हैं। दर्पोद्धत अस्मिता अदना से अदना इन्सान को घमंड की ऊंची कुर्सी पर आसीन करके उससे अपना आपा ही छीन लेती है। इसीलिए सन्त कवियों ने पुकार-पुकार कर कहा है कि अपना आपा वश में रखो, इसी में कल्याण है। मैंने इस बोध को सहेज कर रखा है और इसी कारण मैं अपनी जीवन-यात्रा को सफल या उपलब्धियों से पूर्ण नहीं मानता। मैं यह भी नहीं कहता कि मैंने ऐसा कोई पथचिह्न छोड़ा है जिस पर पैर रखकर कोई व्यक्ति आगे चल सकेगा। 'फुट प्रिंट्स' तो महापुरुष छोड़ते हैं, वे ऐसे होते हैं जिन्हें समय-देवता मिटा नहीं पाता, वरन् काल के अनवरत थपेड़े उन पथचिह्नों को आने वाली पीढ़ी के लिए अधिकाधिक भास्वर और दीप्तिमय बना देते हैं। निश्चय ही पथचिह्न का ऐसा कोई भास्वर बिन्दु मेरे पास नहीं है जो मैं तुम्हें दे सकूं या जिसकी दीप्ति से तुम्हारा पथ आलोकित कर सकूं। मुझे इसका खेद रहा है और यावज्जीवन रहेगा।

गुरुकुलीय जीवन की घटनाओं के विस्तृत विवरण का यह अवसर नहीं है। अनेकानेक घात-प्रतिघातों और घटनाओं से भरा मेरा वह जीवन आत्मकथा का एक अच्छा खासा अंग है। चौदह वर्ष वनवास में रहकर रामचन्द्र ने रामायण के मुख्य प्रतिपाद्य—राक्षस विध्वंस—को चरितार्थ किया, अर्थात् अपने अवतारी आविर्भाव को सफल बनाया। मैंने चौदह वर्ष गुरुकुल में रहकर ऐसा कोई उल्लेख्य कार्य नहीं किया किन्तु अपने व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया मैंने वहीं प्रारम्भ की थी। मैं रेखांकित कर दूं कि आठ वर्ष की आयु के बाद मेरा जीवन आत्म-निर्भर, स्वावलम्बी, नितान्त एकाकी और आत्मकेन्द्रित रहा है। यदि इस नीरव यात्रा में मेरे साथ कोई रहा है और मुझे सहारा देता रहा है तो वे हैं मेरे अपने दो दुर्बल हाथ। वे ही मेरे सम्बल हैं, सहारा हैं और उन्हीं में मैं अपनी शक्ति और सीमा के दर्शन करता हूं। इस आवृत्ति और पुनरावृत्ति

से तुम मेरे साथी को पहचान सकोगी।

गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करने के बाद मैंने जीवन की यथार्थ भूमि पर कदम रखा। यह भूमि बड़ी कठोर, बड़ी निर्मम और अत्यधिक कंटकाकीर्ण साबित हुई। २७ दिसम्बर १६३४ को मैं 'सिद्धान्त शिरोमणि' उपाधि लेकर स्नातक हुआ। प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाने और दो-दो स्वर्ण पदक प्राप्त करने से आनन्द और उमंग के हिंडोले पर बैठा मैं आकाश में उड़ रहा था। खुशी के मारे पैर ज़मीन पर नहीं टिक रहे थे। गाउन और हुड पहनकर मैंने उस दिन जिस हर्षोल्लास का अनुभव किया वह शब्दातीत है। वैसी भरपूर खुशी इस जीवन में फिर कभी नसीब नहीं हुई। नव-स्नातकों की ओर से मैंने एक लम्बा भाषण लिखा था, जिसे मुद्रित करवा कर मैंने श्रोताओं में वितरित किया था। मुझे खेद है कि उसकी कोई प्रति आज मेरे पास नहीं है लेकिन मेरे उस भाषण की नकल बीसियों वर्ष तक गुरुकुलोत्सव पर परवर्ती स्नातक करते रहे। मैंने स्वयं अपने कानों से अनेक बार उसे दूसरों के मुख से अपना बनाकर पढ़ते सुना। उस भाषण में मेरी भावुकता अवश्य चरम सीमा पर थी किन्तु उसमें उल्लास, आनन्द और उमंग का आवेग भी कम नहीं था। अनीस कवि का कवित्त मैंने उस भाषण में सटीक बैठाया था—'देस में रहेंगे, परदेस में रहेंगे, काहू बेस में रहेंगे, तऊ रावरे कहावेंगे···' आदि कहकर मैंने गुरुकुल से विदा ली थी। यह सब २८ दिसम्बर १६३४ को घटित हुआ। २६ दिसम्बर को मेला उखड़ा। सब लोग अपने-अपने घर चले गये। मेरे सहपाठी भी विदा हुए। मैं कहां जाता, मेरा घर तो वहीं था। आश्रम से सामान उठाकर घर चला आया।

एक ही दिन में सारा आनन्द समाप्त हो गया, उल्लास उड़ गया, उमंग छूमन्तर हो गयी और मुझे कल की चिन्ता ने घेर लिया : कल से कहां रहना, कहां खाना, कहां कमाना और क्या करना होगा ? कभी न आने वाला कल मुझे साक्षात् सामने खड़ा दिखाई देने लगा। चौदह वर्ष के कठोर श्रम और अध्ययन से जो उपाधि प्राप्त की थी, उसकी कहीं मान्यता—रिकगनीशेन—नहीं, उसका कोई बाज़ार भाव (मार्केट वेल्यू) नहीं। भले ही मैं उसे उपाधियों में शिरोमणि कहूं लेकिन वह पादमणि भी नहीं है ! चौदह वर्ष व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र, हिन्दी, अंग्रेज़ी आदि नाना विषयों का पंडित होकर भी समाज की नज़रों में मैं निरा मूर्ख, निपट गंवार, पोंगा पंडित ही बना रहा। यह क्या हुआ, क्या सचमुच मैं अनपढ़ ही हूं ? विद्या पढ़ी—खूब मन लगाकर पढ़ी—लेकिन अर्थ-करी सिद्ध न हुई ! 'सा विद्या या विमुक्तये'—का रहस्य यह मालूम पड़ा कि उपाधि को शासन की स्वीकृति चाहिए। भव बन्धन से मुक्त करने वाली विद्या की आज के समाज को आवश्यकता नहीं है—शासन तंत्र से संयुक्त करने वाली

वही विद्या सार्थक है, जो अर्थकरी हो। ऐसा मोहभंग हुआ कि दिन में तारे नज़र आने लगे। अर्थोपार्जन की विद्या नहीं पढ़ी थी, पढ़ा था व्याकरण और साहित्य, धर्म और दर्शन। बुभुक्षित लोग व्याकरण से पेट नहीं भरते, पिपासित लोग काव्य-रस पीकर प्यास नहीं बुझाते; ठंड से बचने को धर्म का अध्याय नहीं ओढ़ते और आंधी-पानी से त्राण पाने दर्शन की गुत्थियां नहीं सुलझाते। मैं पढ़-लिखकर ज्ञानी बना था लेकिन समझा गया अज्ञानी। किम् आश्चर्यमतः परम्। इस यात्रा की कहानी लम्बी है उसे फिर कभी सुनाऊंगा।

आज मेरा जन्मदिन है। घर में छोटा-सा आयोजन है। परिवार के आत्मीय लोग ही होंगे। धूमधाम के साथ समारोह का रूप देना तो मुझे कभी नहीं सुहाता लेकिन घर-परिवार के लोगों से मिलकर खुशी होना स्वाभाविक है। शायद तुम जानती हो कि आज मेरे भीतर एक कसक है जो मुझे सबेरे से ही साल रही है। इस पत्र के लिखने की प्रेरणा भी उसी पीड़ा ने दी है लेकिन पत्र में उसकी चर्चा नहीं करूंगा, मूक व्यथा की तरह उसे सहूंगा, झेलूंगा और तुम लोगों के चिरायुष्य की कामना करूंगा। यदि मेरे आशीर्वाद की तुम लोगों को आकांक्षा हो तो वह भी मुक्त कंठ से सबके लिए वितरित करूंगा।

जन्मदिन के अवसर पर अपने शैशव और यौवन का एक पृष्ठ आज मैंने इसलिए पलटा कि तुम्हें मेरे संघर्षमय जीवन का कुछ पता लग सके और मेरी एकाकी नीरव यात्रा की तुम झांकी पा सको। सस्नेह,

तुम्हारा पिता
विजयेन्द्र स्नातक

श्रीमती स्नेह सुधा
दौलतराम कालिज, दिल्ली

नैराश्य, कुंठा और अवसाद से मुक्ति

संदर्भ

अपने अनुज राजेन्द्र को यह पत्र उसके निराशापूर्ण पत्र के उत्तर में लिखा गया था। राजेन्द्र मथुरा के एक इंटरमीजिएट कालेज में अध्यापक है। परिवार के दायित्व को देखते उसका वेतन अपर्याप्त है। उसे घोर परिश्रम द्वारा अपने परिवार का भरण-पोषण करना होता है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी उसका मन चिन्ताओं से भर जाता है। नैराश्य और कुंठाग्रस्त होकर उसका मन पलायन की ओर दौड़ता है। संघर्ष करने की प्रेरणा विषाद से घिर जाती है। राजेन्द्र ने ऐसी ही कुंठाग्रस्त मन:स्थिति में निराश होकर मुझे पत्र लिखा था। मैंने उसे सचेत करने और संघर्षरत रहने की प्रेरणा से यह लम्बा पत्र लिखा। मेरा लिखना सार्थक हुआ, उसका विलुप्त आत्मविश्वास जागृत हुआ और वह परिस्थितियों की विषमताओं पर विजय पाकर कर्तव्य-पथ पर पुनः आरूढ़ हो गया। आज उसका अपना मकान है, तीन पुत्रियों का विवाह सम्पन्न कर चुका है। एक पुत्र सर्विस में है। दो पुत्रियां एम० ए० कर चुकी हैं और शेष बच्चे पढ़ रहे हैं। उत्साह, परिश्रम, लगन और जीवट के साथ वह जीवन के दायित्व का भली भांति निर्वाह कर रहा है। संघर्ष अब उसका स्वभाव बन गया है, स्वेद बहाकर अब वह शांति पाता है। नैराश्य, कुंठा और अवसाद से आज वह मुक्त है।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
२२-११-७५

प्रिय राजेन्द्र,

तुम्हारा पत्र मिला। मेरा स्वास्थ्य आजकल ठीक नहीं है। शरीर को जितना विश्राम चाहिए वह नहीं मिल पा रहा है। विश्वविद्यालय में अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठने के बाद पिछले पांच वर्ष से मैंने एक दिन भी सुख-चैन से नहीं काटा है। विभागीय कार्यों में ही ज़्यादा समय लग जाता है, लिखने-पढ़ने के लिए उपयुक्त समय नहीं निकाल पाता। कठोर परिश्रम और पूरी निष्ठा के साथ काम करने की मेरी आदत है इसलिए इधर-उधर के प्रपंचों में मैं नहीं पड़ता, काम से काम रखता हूं।

तुमने अपनी आर्थिक स्थिति के विषय में विस्तार से लिखा है। मैं उससे भली भांति परिचित हूं। जो कुछ तुम कमाते हो वह तुम्हारे बड़े परिवार के लिए अपर्याप्त है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को अपने सीमित साधनों से ही गुजर-बसर करनी होती है। मैं जानता हूं कि तुम्हें अपने जीवन में बड़ी विषम स्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। बड़े परिवार के भरण-पोषण का दायित्व वहन करने के साथ तुम्हें अपने कालिज में भी अधिक समय लगाना होता है। लेकिन यह सब तुम्हारी अग्नि परीक्षा है। इसे यदि अग्नि परीक्षा मानकर स्वीकार नहीं करोगे तो जीवन-यात्रा में सफल नहीं हो सकोगे।

तुम लिखते हो "कि मुझे लड़कियों के विवाह की विषम समस्या से जूझना पड़ रहा है। बच्चों की पढ़ाई का प्रश्न भी सामने है।" ये सब समस्याएं न तो नयी हैं और न केवल तुम्हारे सामने ही आई हैं। प्रत्येक गृहस्थ को इनसे जूझना होता है। जो इनसे जूझने से झिझकता या डरता है वह परास्त और पस्त होकर रास्ते में ही बैठ जाता है, मंजिल तक नहीं पहुंच पाता। ऐसे संघर्ष की घड़ी में मन को सबल, सतेज बनाए रखना चाहिए। मानसिक स्तर पर जब विक्षोभ और पराभव का कड़वा धुआं चारों तरफ व्याप्त हो जाता है, तब दृष्टि धुंधली पड़ जाती है। उस धुंधलके में सफेद भी स्याह नज़र आने लगता है। धुएं की कड़वाहट गले को घोंट देती है। ऐसे क्षणों में कभी-कभी जीवन से पलायन की आकांक्षा तीव्र हो उठती है। लेकिन समस्याओं से जूझने और समाधान खोजने के स्थान पर भाग खड़े होना—पलायन करना—तो कायरता है। संघर्ष की बेला में पीठ दिखाने से क्या विषम परिस्थिति पर विजय पाई जा सकती है? मैं जानता हूं कि तुम अपनी सामर्थ्य-शक्ति से अधिक

संघर्ष कर रहे हो—तुम संघर्ष के लिए विवश कर दिए गए हो; परिस्थितियां इसी प्रकार मनुष्य को विवश करती हैं; वह कायर और क्लीव है जो संघर्ष की घड़ी में विषाद के आंसू बहाने बैठ जाता है। स्मरण रहे कि परीक्षा की ये विषम संघर्षमयी घड़ियां ही मनुष्य के कर्तव्य-बोध की जीवन्त घड़ियां हैं, जो इन्हें झेल लेता है वह जीवन-संग्राम में बाज़ी मार ले जाता है।

संघर्ष का भी अपना सुख होता है। यह बड़ा विचित्र सुख है। कठोर परिश्रम से थककर चूर हो जाने के बाद गहरी नींद का सुख तो सब जानते हैं। यह सुख लगभग वैसा ही है किन्तु आनन्द की मात्रा इसमें ज्यादा होती है। दस व्यक्तियों को भरपेट भोजन खिला कर, भोजन के अभाव में स्वयं भूखे पेट सो जाने में जो सुख है उसकी कल्पना केवल कविता का ही विषय नहीं वरन् एक ऐसे कठोर सत्य की अनुभूति है जो शब्दातीत है। राजा शिवि और कर्ण की दान-कथाएं तुमने पढ़ी हैं किन्तु यह दान नहीं, आत्मोत्सर्ग के मार्ग पर पदन्यास है।

तुम्हारे साथ एक भरा-पूरा परिवार बंधा है। नियति ने तुम्हें उस परिवार का बड़ा—गृहपति—बनाया है। 'घर का बड़ा' बना कर तुम्हें बड़े कर्तव्य और दायित्व-बोध से जोड़ दिया गया है। अब बड़े होने के नाते तुम्हारा धर्म कठोर पुरुषार्थ साधना से परिवार-पालन है। परिवार-पालन में समाज की मर्यादा भी है और ममत्व की आभ्यन्तर प्रेरणा भी। परिवार में मर्यादा भी स्थान पाती है और ममता भी पलती है। इन दोनों के भीतर संघर्षरत रहता है 'घर का बड़ा'। घर के बड़े को अर्जुन की दो प्रतिज्ञाओं को निरन्तर ध्यान में रखना है—'न दैन्यं न पलायनम्।' इसे मंत्र की तरह रट-कर उस पर दृढ़ता से आचरण करना चाहिए। मैंने इस संघर्ष को खूब झेला है और अपने जीवन में ही यह पाया है कि गृहस्थाश्रम भी एक छोटा महा-भारत है। यदि गांडीव छोड़कर भाग खड़े हुए तो भीतर का शत्रु ही तुम्हें चैन नहीं लेने देगा। भागने से जो आत्मग्लानि होगी वह अन्तर्ज्वाला धधका देगी। वह तुम्हारे भीतर एक भीषण आग पैदा करेगी जिसकी लपटों में झुलस कर स्वाह हो जाओगे। जो लोग गृहस्थ के संघर्ष को झेल नहीं पाते, जूझने से बचने के लिए वैराग्य का बहाना ढूंढ़ते और वैरागी होकर वन में चले जाते हैं वे और अधिक विषण्ण बनते हैं। यहां तो घर-परिवार के लोगों से वैर-विरोध, प्रेम-ममता थी वहां वन्य पशुओं से भय-त्रास, प्यार-आसक्ति होती है। वन में सुख की खोज पलायनवादी मनोवृत्ति का परिचायक है। इसलिए गीता के उपदेश को सही समझो और 'युद्धस्वविगत ज्वरः' का पाठ याद रखो। खेद, विषाद, दुःख-दैन्य का ज्वर छोड़कर जीवन-संघर्ष में डटकर, विषम परि-स्थितियों से जूझो, लड़ो, दिन रात लक्ष्य की ओर टकटकी लगाए बढ़ते रहो।

कैसी थकान और कैसी शान्ति ! कैसा स्वाद और कैसा सुख ! कैसी क्लान्ति और कैसा चैन ! कैसा व्यामोह और कैसा आराम ! सब हराम है ! हमारे लिए तो केवल काम ही काम है ! सूर्य की पहली किरण के साथ काम में जुट जाओ और दिन भर कार्यरत रहकर प्रतीक्षा करो चांद की पहली किरण के उदय की। रात में जीवन के अधूरे सपने देखो क्योंकि फिर दूसरे दिन प्रभात होते ही उन्हीं सपनों को पूरा करना है।

तुम जीवन की अधूरी यात्रा में थककर बैठना चाहते हो यह कैसी नादानी है। देखो, दूर—बहुत दूर जो स्वर्णिम किरण का आलोक दिखाई देता है वहां तुम्हारी मंज़िल है। अभी से थककर बैठने से क्या होगा ? अभी तो मैं भी उसी दिशा में बढ़ रहा हूं—मेरी मंज़िल भी दूर है, वहां तक पहुंचने के लिए हिम्मत से काम लेना और आगे बढ़ना होगा। साबित कदम से चलो, लड़-खड़ाओ मत, डिगो मत, थके-हारे बनकर बैठो मत। बढ़ो—मंज़िल दूर नहीं रहेगी। मंज़िल तक पहुंचना भी दुनिया का एक बड़ा सुख है !

मैं यह सब तुम्हें इसलिए लिख रहा हूं कि मैंने अपने जीवन में इसी सत्य का साक्षात्कार किया है। कठोर परिश्रम की पाठशाला में मैंने जो सबक सीखा है उसे दोहराता रहता हूं। यह पत्र उसी पाठ को दोहराने के खयाल से लिख रहा हूं। परिश्रम में मेरी अटूट आस्था है। मुझे लगता है कि कर्तव्य-पालन के लिए किया गया निष्ठापूर्ण परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता। मैं दिन में एक पल को भी विश्राम नहीं करता। रात को ग्यारह बजे से पहले सोता नहीं। सोते समय भी अगले दिन के संघर्ष का ध्यान बराबर बना रहता है इसलिए गहरी नींद का सुख मेरे भाग्य में नहीं है। कठोर परिश्रम और पूरी निष्ठा के साथ काम करने की मेरी आदत है। भोग-विलास और ऐश्वर्य-पूर्ण जीवन के प्रति मेरा कभी कोई आकर्षण नहीं रहा। सच कहूं तो मुझे भोग और ऐश्वर्य का वातावरण जीवन में मिला ही नहीं। आज बासठ वर्ष की आयु बीत जाने पर जब पीछे मुड़कर देखता हूं तो लगता है कि एक लम्बी रेगिस्तानी तपती धरती को पार कर जहां पहुंचा हूं वहां भी पथरीली चट्टान है। किसी श्यामल दूर्वादल की शीतलता न तो मैंने कभी देखी और न कभी उसकी कामना की। तप्त रेत की ऊष्मा से विचलित नहीं हुआ; पांव दृढ़ता के साथ ज़मीन पर टिके रहे, दृष्टि अवश्य ऊर्ध्व गगन की ओर बनी रही। मैं किसी मरीचिका में नहीं भटका, मैंने तो जानबूझ कर कंटकाकीर्ण पथ अपनाया था। इसलिए मुझे अवसाद और विषाद ने नहीं घेरा।

मेरा विवाह जिस आयु में हुआ था वह पूर्ण युवावस्था थी किन्तु आर्थिक दृष्टि से पूरे गृहस्थ का भार वहन करने की शक्ति उस समय मुझ में नहीं थी। मामूली नौकरी करता था लेकिन बेहद सस्ता ज़माना था। तीस-चालीस रुपये

में लोग बड़ी शान से गुजर-बसर कर लेते थे। मैंने भी यही मार्ग पकड़ा लेकिन विवाह के एक वर्ष बाद नौकरी छोड़ दी और छोटी सी राशि जो मेरी गांठ में थी उसी से गाड़ी खींचता रहा। परिवार बढ़ता रहा, दायित्व लदता रहा, कर्तव्य चुनौती देता रहा और मैं किताबों के ढेर में लुका-छिपा भविष्य का सुनहरा स्वप्न देखता रहा। इस आपाधापी में कुछ नहीं मिला, ऐसा मैं नहीं कहता। यदि कुछ न मिलता तो मैं ज़रूर टूट जाता। लेकिन मैं टूटा नहीं, बढ़ता रहा—बढ़ता रहा और फलतः आज जीवन की एक अभीष्ट मंज़िल पर पहुंच गया हूं। श्रम कभी निष्फल नहीं जाता, यह मैंने अपने जीवन में ही देख लिया है। मैं इसीलिए तुम से कहता हूं कि निराश और कुंठित होने की कोई बात नहीं है। यदि लक्ष्य ओझल न होगा तो सिद्धि अवश्य मिलेगी। जब लक्ष्य की ओर बढ़ना हो तो पेड़ को मत देखो, पेड़ का तना, शाखा, टहनी, फूल-पत्ते कुछ भी मत देखो—देखो केवल मछली की आंख जो तुम्हारे लक्ष्य का केन्द्र-बिन्दु है। अर्जुन इसी आंख को देखकर लक्ष्य-बेध में सफल हुआ था।

मुझे तुम्हारे परिश्रम की दिनचर्या का पता है। लेकिन मैं उससे तनिक भी विचलित नहीं हूं। मैं यह भी जानता हूं कि इतने कठोर परिश्रम के बाद तुम्हें वह सब नहीं मिल रहा है जो तुम्हारा प्राप्य है। दिन भर खटने के बाद जो कुछ तुम पाते हो उसमें आनन्द या सुख का अंश मात्र 'घर का बड़ा' होना है। तुम्हारे भाग्य में जब यही है तो उसमें ही संतोष करना चाहिए। इसे भाग्य की विडम्बना कहो, वरदान कहो, अभिशाप कहो—या चाहे कुछ कहो किन्तु मर्यादा और ममता ने तुम्हारी ललाट-लिपि में जब यही लिखा है तो उसे पोंछ कौन सकता है! तुम्हारे श्रम-संतप्त ललाट पर सुख के शीतल सीकर कौन छिड़केगा! तुम्हारे लिए तो श्रम के स्वेद-कण ही सीकर का काम देंगे। स्वेद-बिन्दु में अपना प्रतिबिम्ब देखने का अभ्यास करो। जीवन की सार्थकता परिश्रम से पसीना बहाकर स्मित आनन बनाए रखने में है। रोना-झींकना तो कायरों का काम है। जीवट के आदमी को यह कभी नहीं सुहाता। मुझे विश्वास है कि तुम अपने कर्तव्य-पथ पर अडिग रहकर परिस्थितियों से हिम्मत के साथ जूझने का हौसला दिखाओगे।

मैं किसी रविवार को वृन्दावन आने का कार्यक्रम बनाऊंगा और तुम्हें सूचित कर दूंगा। पिताजी को सादर नमस्ते कहना। बच्चों को प्यार, सस्नेह।

तुम्हारा भाई
विजयेन्द्र स्नातक

श्री राजेन्द्रसिंह वर्मा
सोमाणी मार्ग, वृन्दावन

जीवन-मरण की पहेली और स्वास्थ्य

संदर्भ

हम लोग अपने और अपने बंधु-बांधओं तथा मित्रों के स्वास्थ्य के विषय में बहुत चिन्तित रहते हैं। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जो वास्तव में करणीय होता है वह तो कम करते हैं किन्तु चिन्ता करना हमारा स्वभाव है। इस पत्र में मैंने स्वास्थ्य-चिन्ता को महत्व न देकर जीवन के विषय में कुछ मूलभूत प्रश्नों को उठाया है। जिन इच्छा-आकांक्षाओं से हमारी दिनचर्या आक्रान्त रहती है उन पर भी इसमें दृष्टि-निक्षेप है, एषणा-त्रय की चर्चा भी इसी संदर्भ में की गई है। जीवन और मृत्यु विषयक चिरंतन प्रश्न भी प्रसंगत: इसमें आ गया है और उस पर सरसरी तौर पर टिप्पणी है। क्या इस नश्वर जगत् में मृत्यु ही सत्य है, जीवन विकृति मात्र होने से निस्सार है? इस चिर अनादि से उठे प्रश्न पर विमर्श की चेष्टा इस पत्र में है।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग
दिल्ली-७
६-१२-७८

प्रिय खंडेलवाल जी,

सप्रेम नमस्ते। आपका पत्र मिला। मेरे स्वास्थ्य के विषय में आपकी चिन्ता स्वाभाविक है। इधर पिछले पन्द्रह-बीस दिन से मैं इंजेक्शन ले रहा था। असावधानी होने से एकसाथ शरीर गिरता गया और दुर्बलता बढ़ गई। सच बात तो यह है कि जिसे स्वास्थ्य कहते हैं वह अब समाप्त हो चुका है। शरीर चल रहा है। किन्तु शरीर तो अपनी शब्द-प्रकृति से ही शीर्यमाण है, शीर्यते इति शरीरम्। शरीर स्वस्थ रहे यह आवश्यक है किन्तु अनिवार्यतः सदैव शरीर स्वस्थ रहता नहीं है। सात वर्ष विभागाध्यक्ष की कुर्सी पर बैठ कर मैंने जो खोया वह स्वास्थ्य ही है, और जो पाया वह और कुछ नहीं चिन्ता, रोग और विषाद ही था। अब इन सब उपलब्धियों को पूरी तन्मयता के साथ भोग रहा हूं। वैसे स्वास्थ्य के विषय में हम लोग सोचते बहुत हैं किन्तु सोचने से कुछ बनता नहीं है। 'शरीरं व्याधि मन्दिरम्' मानकर चलने से चिन्ता कम और सूक्ति का सन्तोष तो बना रहता है, किन्तु इसी सूक्ति के साथ 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' का भी स्मरण हो आता है। यही कष्ट है।

आप तो कवि, विचारक और आलोचक हैं। स्वयं सर्जक होने के नाते सृजन प्रक्रिया से परिचित हैं। भौतिक सृजन से, मनोजगत् का सृजन सूक्ष्म होता है किन्तु सारा सृजन क्षणभंगुर, नाशवान, अस्थायी और ध्वंसावसायी है। 'यत् सत् तत् क्षणिकम्'—को आप भली भांति जानते हैं। सृष्टि के आदि से लेकर आज तक जितना सृजन हुआ वह ज्यों का त्यों स्थिर नहीं है। जितनी कथा-कहानियां लिखी गयीं; घटित हुईं; सुनी और देखी गयीं; सबका एक न एक दिन अवसान हुआ। हर कहानी में क्लाइमैक्स होता है। चरम परिणति के बिना कथा-कहानी पूरी नहीं होती। हर कहानी में द्वन्द्व और संघर्ष होता है, कनफ्लिक्ट होता है; और प्रत्येक कहानी की नियति उसके उपसंहार-अवसान में है। पैंसठ वर्ष की मेरी यह नगण्य-सी कहानी भी अब अपने उपसंहार में है। आधि-व्याधि, विषाद और अवसाद इसकी चरम परिणति है। मंथर गति से कहानी उधर ही बढ़ रही है।

कहानी कब खतम होगी, मैं नहीं जानता। अन्तिम क्षण का पता तो केवल विधाता को ही होगा—भाग्यलिपि का लेखा-जोखा भी उसी के पास है। सारी

सृष्टि उसकी आमोदमयी लीला का पसारा है। उसके निर्माण को जैसे हम नहीं जानते वैसे ही उसके ध्वंस या अवसान का भी हमें पता नहीं होता। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जो कुछ हम स्वयं सोचते हैं, स्वेच्छा से बनाते हैं उसका थोड़ा बहुत पता हमें रहता है। मैं अपनी अस्तंगत लीला को अब कुछ-कुछ समझने लगा हूं क्योंकि इस लीला में मेरा अपना रचनाकार सक्रिय रहा है। जो कहानी कभी शुरू हुई थी और जिसका मुझे छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति के लिए कोई महत्त्व नहीं था, और न अब है, यदि वह बिना किसी कोलाहल या हलचल के समाप्त हो जाय तो इस विराट् विश्व में क्या परिवर्तन होगा। शायद पेड़ का एक पत्ता भी न हिले। 'जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः' तो सभी जानते हैं फिर कैसी व्यथा-कथा ?

वास्तव में हमें समझ लेना चाहिए कि मरण तो शरीर की प्रकृति है, नैसर्गिक स्वभाव है। जीवन विकृति है। जो विकृति है उसके लीन-विलीन होने की क्या चिन्ता। 'प्रकृतिः मरणं शरीरिणां, विकृतिः जीवनमुच्यते बुधैः।' महाकवि कालिदास ने जीवन को विकृति क्यों कहा ? जो सबसे अधिक प्रिय है यदि वही विकृति है तो जीवन को काम्य क्यों ठहराया गया ? मैत्रेयी से क्यों कहा गया कि 'आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति—नचिकेता से 'मरणं मानुप्राक्षीः' मरण को न पूछने की बात क्यों कही गयी ? मुझे लगता है कि जीवन-मरण के बीच यह संघर्ष सदा से चलता रहा है। नचिकेता तो मृत्यु का रहस्य जानने पर ही अड़ा रहा, उसने जीवन की चिन्ता नहीं की। शायद वह जानता होगा कि जीवन विकृति है। रहस्य ही जानना है तो प्रकृति का रहस्य जानो, मृत्यु का रहस्य जानो। जीवन को विकृति मानने की बात है बड़ी विचित्र किन्तु वैराग्य और विवेक से जो जाना जाता होगा वह संभवतः यही सत्य होगा कि मृत्यु सत्य है, वही प्रकृति है, वही स्वभाव है। जीवन विकृति है, विकार है, असत्य और नाशवान् है। क्या इसीलिए वह सर्वाधिक प्रिय है ?

यदि जीवन विकार है; (सत्य नहीं, स्थायी नहीं) मिथ्या है तो हम सब इसके अवसान को सहज ही स्वीकार क्यों नहीं करते। हिन्दू-दर्शन में तो पुनर्जन्म की व्यवस्था है। पुनर्जन्म का कार्य-कारण सम्बन्ध भी माना जाता है। वास्तव में जीवन के विषय में यह एक ऐसा कल्पित सन्तोष है जो विकार में भी नैरन्तर्य बनाए रहता है। जिन धर्मों में पुनर्जन्म की स्वीकृति नहीं, वहां जीवन के पुनर्भव का प्रश्न नहीं उठता। वहां जीवन को विकार कहना भी असंगत होगा क्योंकि जन्म और मृत्यु दोनों समभाव से वहां विद्यमान रहते हैं। एक बार जन्म-जीवन; और एक बार ही मृत्यु-मरण, अवसान। दोनों में प्रकृति-विकृति का भेद नहीं।

जीवन-मरण के साथ ही जुड़ा है हमारा यह स्व-रचित संसार। यदि कविता के रूपक में कहूं तो यह संसार एक विशाल वटवृक्ष है जिसकी असंख्य शाखाओं पर अनगिनत पक्षी रात में बसेरा लेते हैं। आपस में मिलते हैं; राग-द्वेष के बंधन बांधते हैं; स्नेहातिरेक में कभी एक-दूसरे को सगा सम्बन्धी आत्मीय मानते हैं; कभी छोटे-मोटे मनमुटाव से एक-दूसरे को शत्रु भी समझते हैं; लेकिन प्रभात की रंगीन किरणों के साथ सभी पखेरू पंख फड़फड़ाकर वटवृक्ष का बसेरा छोड़, निर्जन बन में उड़ जाते हैं। पक्षियों का यह आना-जाना, प्यार-प्रीति का मिलना-बिछुड़ना, आप रोज़ ही देखते होंगे। कैसे-कैसे रंग-बिरंगे विचित्र पक्षी रोज़ ही आते-जाते हैं, ध्यान न देने पर भी हमारे ध्यान में यह दृश्य समाया रहता है।

मैंने कभी दार्शनिक मुद्रा में जीवन और जगत् के स्वरूप पर विचार नहीं किया। जीवन के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन के लिए मैं अपने को असमर्थ पाता हूं किन्तु अपने घर के सामने खड़े नीम के वृक्ष को मैं मन की उदासी के क्षणों में महीनों से देख रहा हूं और बिना किसी दार्शनिक ज्ञान के इसके सहारे संसार को यत्किंचित् समझने लगा हूं। नीम का यह अवयस्क वृक्ष संसार के कुछ रहस्य अवश्य खोलता है। कुछ चिड़ियां तो इस नीम के पेड़ को नीड़ के रूप में स्वीकार करती हैं और कुछ यों ही रात के बसेरे के लिए निस्पृह भाव से आकर विरम जाती हैं। सवेरा होते ही वे जिस अनासक्त भाव से विदा होती हैं वह किसी तत्त्ववेत्ता की मनःस्थिति का ही परिचायक है। मुझे ऐसी शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव चिड़ियों का सहज भाव से आना और वीतराग की तरह सब कुछ छोड़-छाड़कर उड़ जाना बहुत अच्छा लगता है।

कभी-कभी सोचने लगता हूं कि इस छोटे से नीम के पेड़ को नीड़ बनाकर रहने वाली गौरैया और पंडुक की अपेक्षा रात को बसेरा लेने वाली मैना के मन में क्या इस पेड़ के प्रति कोई आसक्ति नहीं है! सबेरे की पहली किरण के साथ पेड़ छोड़कर उड़ जाने वाली मैना के मन में प्रीति-प्यार और राग-दुलार की कोई डोर क्यों नहीं है! आज रात नीम के पेड़ पर और कल रात पीपल के पेड़ पर बसेरा करने वाली इस चिड़िया को संसार की असारता का, प्रीति-प्यार की नश्वरता का बोध किसने कराया! किसने इसके भीतर इस विवेक-बुद्धि को जागृत किया कि नीम, पीपल, बरगद सब बसेरे हैं, सब को स्वीकार करो और विरमने के बाद सब को निरीह भाव से सवेरा होते ही त्याग दो। कोई भी चिड़िया शंकर के अद्वैत से परिचित नहीं है। 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' का किसी को पता ही नहीं है। किसी ने सत् असत् विवेक का दर्शन नहीं पढ़ा है। अध्यात्म क्या है, अध्यास क्या है, अविद्या क्या है, माया क्या है, इन निर्द्वन्द्व चिड़ियों को कुछ भी पता नहीं। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' के लिए इन्होंने

किसी दार्शनिक की पाठशाला में ज्ञानार्जन नहीं किया। चित्त वृत्तियों के निराध के लिए किसी योगी के पास योगाभ्यास नहीं सीखा। 'मसि कागद' तो इनके लिए बना ही नहीं है। हर चिड़िया से 'तोता रटन्त' भी नहीं बन पड़ती। जब इनके पास ज्ञान योग, ध्यान योग, कुछ नहीं तब क्या हम इन्हें मूर्ख समझें ! नहीं, ये मूर्ख कतई नहीं हैं। इनके पास जो है वह हमारे पास नहीं है। रात को इस नीम के पेड़ पर विश्राम के लिए आने वाले ये प्रसन्न-प्रमुदित निश्चिन्त पक्षी मुझे रोज़ ही अनेक बातें बता जाते हैं। इन पक्षियों के कलरव को संभवतः इसीलिए हर्ष और उल्लास का प्रतीक माना गया है कि इनके मन में न तो राग का जड़ बंधन होता है और न द्वेष का तीव्र दंश।

मैं इन चिड़ियों को नीम की टहनियों पर फुदकते-थिरकते, आनन्दोत्सव मनाते देखकर कभी-कभी ईर्ष्या का अनुभव करता हूं। देखिए न, इन्हें न तो मधुमेह है और न हृदय रोग। इनका हार्ट फेल नहीं होता। जब धड़कन बन्द होती होगी तब ये शान्त-स्निग्ध भाव से महानिद्रा में लीन हो जाती होगी। न डाक्टर की पुकार-गुहार और न दवा-दारू का झंझट। पलक झपकते ही सारे हर्ष-विषाद मरणोत्सव में समा गए। स्वर्ग और अपवर्ग का असीम सुख इन्हें इसी नीम की ससीम दुनिया में नसीब हो जाता है।

मुझे बड़ा तरस आता है जब मैं मनु की सन्तान को आपाधापी की दौड़-धूप में धक्कम-धक्का करते, गाली-गलौज करते, चीखते-चिल्लाते संत्रास और पीड़ा से कराहते देखता हूं। तनावों और दबावों के बीच कसमसाता मनु पुत्र अपनों को सृष्टि की श्रेष्ठतम कृति भले ही समझे किन्तु उसकी कराह और कसमसाहट इन नन्ही-मुन्नी चिड़ियों की थिरकन और फुदकन के समक्ष अत्यन्त हेय और हास्यास्पद है। मनुष्य को थिरकने और प्रमुदित होने का अवकाश ही कहां है ! वह तो शायद झींकने को ही जन्मा है।

मनुष्य ने अपना जो संसार स्वयं रचा है वह स्रष्टा की रचना से भिन्न है। महत्वाकांक्षा और मद-मात्सर्य की क्षुद्र परिधि में सिमट कर मनुष्य जो प्राप्त कर लेना चाहता है वह 'एषणा त्रय' के सिवा क्या है ! पहली एषणा—जिसे वित्तैषणा—धनलिप्सा—कहते हैं क्या किसी की पूरी हुई है ! वित्तैषणा की तृप्ति का मार्ग त्याग और वैराग्य के दुर्गम पथ से होकर अपरिग्रह के राज-मार्ग तक जाता है। जिस संग्रह के लिए जीवन भर मनुष्य लालायित रहता है उसी का त्याग वित्तैषणा की पूर्ति है। यह विचित्र विरोधाभास है जिसे समझे बिना वित्तैषणा पूरी नहीं होती।

पुत्रैषणा तो काम का ही दूसरा रूप है। काम दुर्दम होता है। इसकी एषणा उपभोग से शान्त नहीं होती। 'न जातु: काम कामानां उपभोगेन शाम्यति'—इसीलिए कहा गया है। काम को शिव जब परास्त नहीं कर सके

तो उसे भस्म करने के अतिरिक्त उन्हें कुछ और नहीं सूझा। जीतने और जला डालने में अन्तर है। अपने तीसरे नेत्र की अग्नि से काम को भस्म करने को विवश शिव-शक्ति का जो परिचय मिलता है वह वस्तुतः काम की अपराजेय शक्ति ही है--'तावत् स वह्निः भवनेत्र जन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार'''।'

कामजयी होने के लिए इन्द्रियों पर कठोर अनुशासन का जो विधान हठयोग में किया गया है वह सर्वजन संभाव्य नहीं है। जीवन में प्रमाद के कितने अवसर आते हैं; मार्ग में कितना कीचड़ मिलता है, कितने चहबच्चे पड़ते हैं यह आप भली भांति जानते हैं। धन्य हैं वे जो ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर भीष्म और दयानन्द की तरह जीवन में काम को बचा जाते हैं।

तीसरी एषणा तो बहुत ही अनिष्टकारी और सूक्ष्म है। इसे लोकैषणा कहते हैं। यश की अभिलाषा इतनी व्यापक है कि इस पर विजय पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। "मैं संसार में अमर हो जाऊं; मेरी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो जाए; मेरा नाम अमिट अक्षरों में काल की स्लेट पर लिख दिया जाए; मैं एक ही जीवन जी कर अनेक जीवनों की छाप इस संसार पर छोड़ जाऊं।" इसी तरह की आकांक्षा का नाम लोकैषणा है और यही मनुष्य के भीतर विविध रूपों में इच्छा-आकांक्षाएं जगाती है। कुछ यशोलिप्सु तो पार्थिव चिह्नों द्वारा अपना नाम दुनिया में छोड़ जाने का भ्रम पालते हैं। मिस्र के पिरामिड, राजा-महाराजाओं की छतरियां, मुगल बादशाहों के रोज़े-मकबरे, ईसाइयों की कब्र पर बने स्मृति-स्तूप कुछ इसी प्रकार के प्रयास हैं। लेकिन यश को स्थायी बनाने और दिग्-दिगन्त तक फैलाने के ये सारे प्रयत्न विफल ही हुए हैं। यदि आप संसार के सभी देशों के महापुरुषों के नाम याद करें तो अरबों मनुष्यों में से शायद बीस-पच्चीस नाम ही आपके स्मृति-पटल पर होंगे। लोकैषणा के प्यासे ये असंख्य मनुष्य कहां विलीन हो गए, कौन जानता है!

संसार को विजय करने की हास्यास्पद महत्वाकांक्षा रखने वाले दिग्विजयी योद्धाओं की करुण-कथा से तो आप परिचित ही हैं। सिकन्दर, नैपोलियन, नादिरशाह, मुहम्मद गज़नी, चंगेज़खां, हिटलर, मुसोलिनी आदि तथाकथित विश्वविजेताओं की चरम परिणति जिस घोर-घृणित अपयश में हुई वह इतिहास के काले पृष्ठों में गहरी काली स्याही से दर्ज है। इन महायोद्धाओं की महत्वाकांक्षा में शायद एषणा-त्रय ही प्रेरक शक्ति थी जिसका कुफल इन्हें अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भोगना पड़ा। ये सभी महावीर भूल गये थे कि—

"आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ
नेकी कर जाना, फेर आना है न लाना है।"

मेरे भीतर भी इन एषणाओं का दंश रहा है। अस्थिचर्ममय देह का यह धर्म ही है कि वह एषणाओं के घात-प्रतिघात सहकर जीवन के कटु-तिक्त

अनुभवों में होकर गुजरे। किन्तु जब मैं संसार के यशस्वी, मनस्वी, महात्मा और महापुरुषों का ध्यान करता हूं तो अपने को रजकण के समान तुच्छ पाता हूं और लगता है कि कोई भी एषणा मुझे जीवन का वह सुख नहीं दे सकती जो चिरस्थायी कहाता हो।

हम सब एषणाओं के चक्रवात में फंसकर जीवन पर्यन्त चक्कर काटते रहते हैं और इन एषणाओं की संतति को निरन्तर बढ़ाते रहते हैं। धन की एषणा को शान्त करने का उपाय बताया गया है—"जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान"—लेकिन संतोष-धन आता कहां है! ज्ञान के अथाह और अपार पारावार से जो एक कण भी न पा सका हो उसका ज्ञान-दंभ कितना थोथा, कितना निस्सार, कितना मूढ़ाग्रहपूर्ण होगा यह लिखने की बात नहीं है। ऐश्वर्य और धन-सम्पत्ति का दंभ निश्चय ही निस्सार है। आपने करोड़-पतियों को अपने ही जीवन में भीख मांगते देखा होगा और यह भी देखा होगा कि जो धन-संग्रह करने में आजीवन लगे रहे वे एक रात भी सुख की नींद न सो सके।

यह अच्छा ही हुआ कि अपना रिश्ता धन से नहीं जुड़ सका। विधाता ने हमारी भाग्यलिपि में सम्पत्ति शब्द लिखा ही न था। अध्यापक का पेशा अप-नाया तो लक्ष्मी रूठकर निरक्षर पड़ौसी व्यापारी के घर जा बैठी। लक्ष्मी का अविवेक तो देखिए, हीरे-जवाहरात, सोना-चांदी से लेकर लोहा-लंगड़ और नौन, तेल, जीरा, धनिया बेचने वालों के घर पसरी बैठी है। वहां से हिलने का नाम नहीं लेती। मेरे पड़ौस में एक तांबे-पीतल के व्यापारी हैं। लाखों रुपये का सफेद-काला धंधा करते हैं। दूसरे फल विक्रेता हैं, तीसरे कपड़े के तिजारती हैं। सबके यहां लक्ष्मी का स्थायी वास है। उनके घरों में लक्ष्मी चंचला क्यों नहीं है? क्यों जमी बैठी है? कभी-कभी लक्ष्मी देवी के अविवेक पर रोष भी हो आता है। लक्ष्मी का सत्य, निष्ठा, आस्था, और ईमानदारी से लगाव क्यों नहीं है? काली तिजारत में लक्ष्मी का वास क्यों है? क्या वाहन के गुण भी व्यक्ति में संक्रमित होते हैं?

मुझे आयकर विभाग के अधिकारियों की कर्तव्यपरायणता पर विस्मय होता है जब वे मुझसे पैसे-पैसे का ब्योरा मांगते हैं। मेरे अत्यल्प संचय को संदेह की दृष्टि से देखते हैं और इन काले-पीले व्यापारियों के प्रति सशंक होना तो दूर; स्नेहभरी मुसकान से देखकर इनकी फर्जी बहियों पर खुशी-खुशी सही कर देते हैं। क्या किसी निर्धन देश की समृद्धि इसी प्रकार के आयकर से संभव है?

मैंने अपने पत्र में बात तो अपनी कहानी के अवसान के संदर्भ से शुरू की थी। मैं कहना यह चाहता था कि मनुष्य का जीवन एक लघु-कथा है, उसके

सारे उतार-चढ़ाव एषणाओं के संघर्ष में समाए रहते हैं। इन्हीं में महत्वाकांक्षा और अभिलाषा के सपने पलते हैं। इस विराट् संसार में बहुत कम मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके स्वप्न व्यक्ति-सीमा का अतिक्रमण कर समष्टि का—समग्र मानव समाज का—अंग बनते हों। जो व्यक्ति केवल दिवास्वप्न देखते हैं उनकी चर्चा करना तो व्यर्थ है। मैंने ऐसा कोई स्वप्न नहीं देखा है जो किसी दूसरे के लिए उल्लेख्य बन सके। मुझ जैसे नगण्य और अकिंचन व्यक्ति की कहानी कुछ वर्ष चलती रहे या कल समाप्त हो जाए तो विश्व के कारोबार में कोई अन्तर नहीं आएगा। हां, एक बात अवश्य है। मेरे जैसे नगण्य व्यक्ति का संघर्ष उन व्यक्तियों के लिए प्रेरक हो सकता है जो मेरी ही तरह संघर्षरत रहकर जीवन-यापन करने को विवश हैं।

मैं जब कभी स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता करता हूं तो मुझे अपने भीतर से कुछ अस्पष्ट सी गूंज सुनाई देती है। चेतन स्तर पर सावधान रहने पर भी अवचेतन से कोई कहता है: सब क्षणिक है, नाशवान् है, अस्थिर है। इसके लिए व्यर्थ चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। फिर यही ध्वनि भीतर से उठती है, 'प्रकृतिः मरणं शरीरिणां, विकृतिः जीवनमुच्यते बुधैः।' क्या मेरा अवचेतन बुधजन की कोटि का है? वही यह भी कहता है कि तुम्हारी कहानी न तो महापुरुष की है और महाजन की, जिसे अनुकरणीय मानकर कोई इस पथ का अनुसरण करेगा। मैं प्रायः कहा करता हूं कि मेरी कहानी प्रियजन, परिजन, बंधु-बांधव की कहानी नहीं, मेरी अपनी दो दुर्बल भुजाओं की है, एकाकी संघर्ष की है, तप्त रेगिस्तान की है, संतप्त मनःस्थितियों की है। उसे लिखूं तो क्यों लिखूं! कभी-कभी दुःख की घनीभूत पीड़ा में कहानी के पन्ने स्वयं पलट लेता हूं; स्वयं अपना चित्र देखने जैसा सुख होता है वह। असुन्दर आदमी भी जब अपना फोटो देखता है तो अपने को असुन्दर नहीं पाता। मां को अपना काला-कलूटा बेटा जैसे प्यारा लगता है वैसे ही मुझे भी अपनी कहानी की तस्वीर सुन्दर लगती है। हो सकता है निरवधिकाल और विपुला पृथ्वी में कभी कोई समानधर्मा उत्पन्न हो जो इस कहानी को पढ़कर प्रमुदित हो सके। सतही पटकथा के उच्छल आवेगों और द्वन्द्वरत संघर्षों से भरी मेरी कहानी अभी तो मेरे साथ है। कभी सुयोग हुआ तो उसे अपने भीतर से निकाल कर बाहर खड़ा करूंगा।

आपको इतना लम्बा पत्र इसलिए लिखा कि मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता से आप उद्विग्न न हों। कहानी के अथ और इति की तरह इसे मानें; और मुझे संघर्षमय पाकर स्वस्थ ही समझें। मैंने स्वयं अब अपनी दिनचर्या को ऐसा बना लिया है जिसमें हर्ष-विषाद के लिए कोई खास स्थान नहीं है। सुख-दुःख को समान भाव से ग्रहण करता हूं। "मसर्रत हुई हँस लिए दो घड़ी, मुसीबत पड़ी

रोके चुप हो रहे।" बस यही जीवनक्रम है। अभी तो विश्वविद्यालय की सेवा का भी एक वर्ष शेष है। अगले दिसम्बर में सेवा-निवृत्ति का सुख मिलेगा। सस्नेह,

आपका,
विजयेन्द्र स्नातक

डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

परीक्षा की पीड़ा—बनाम उत्तर-पुस्तकें जाँचने का दुःख

संदर्भ

परीक्षा की उत्तर-पुस्तकें जांचने का सुख क्षणस्थायी ग्रौर दुःख चिरस्थायी होता है किन्तु यह ग्रनुभूति बहुत विलम्ब से होती है। मैं स्वयं इस कार्य की पीड़ा से दग्ध होकर इसे पांच वर्ष पहले ही छोड़ चुका था किन्तु अवकाश ग्रहण करने के बाद इस वर्ष समय-यापन ग्रौर ग्रार्थिक प्रलोभन से स्वीकार कर बहुत पछताया। इस पछतावे का वर्णन इस पत्र में है। डा० भारद्वाज मेरे सह-परीक्षक थे। मैंने अपनी वेदना पत्र द्वारा उन तक पहुंचा कर कुछ राहत का ग्रनुभव किया। ग्राप चाहें तो इस पत्र को श्रम परिहार का विनोद कह सकते हैं। ग्रगर ग्राप ग्रायु की प्रौढ़ि पर पहुंच गये हैं तो ग्राप भी मेरे दुःख के सहभोक्ता होंगे ग्रौर इस पत्र में अपनी पीड़ा का प्रतिबिम्ब पा सकेंगे।

ए-५/३, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-७
१५-५-८०

प्रिय भारद्वाज जी,

सप्रेम नमस्ते। आपका भेजा उत्तर-पुस्तकों का पार्सल मिला। मूल्यांकन का स्तर ठीक है। अब आप निरन्तर मेरी जांची हुई उत्तर-पुस्तकों के पार्सल की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। इच्छा रहते हुए भी मैं इनसे जूझ नहीं पा रहा हूं। सामने पड़े कापियों के बंडल को देखकर ताल ठोकता हूं, दो-चार हाथ दिखाता हूं कि बस पस्त होकर बैठ जाता हूं। आयु की प्रौढ़ि में कापी जांचने का काम बड़ी हिम्मत का है। इस आयु में यह काम नितान्त नीरस, बोझिल, अरुचिकर एवं कष्टप्रद प्रतीत होता है। पचपन वर्ष की आयु के बाद इस नीरस काम से अपना पिंड छुड़ा लेना ही श्रेयस्कर है। मैं पिछले पांच-सात वर्षों से यह काम नहीं कर रहा था। ग्रीष्मावकाश बड़े आनन्द से, बिना किसी मानसिक तनाव-दबाव के, कटता था। इस वर्ष यह सोचकर थोड़ा-सा—सिर्फ दो-तीन विश्वविद्यालयों का—काम ले लिया कि अब मैं सेवा-निवृत्त हूं, धीरे-धीरे कुछ करता रहूंगा। लेकिन काम क्या ले लिया—सिर पर बैठे-ठाले विन्ध्याचल का बोझ लाद लिया। कापी जांचने का भी अभ्यास और गुर होता है। जब यह गुर छूट जाता है तब 'अनभ्यासे विषं विद्या' जैसा दुर्वह लगने लगता है। पिछले आठ-दस दिन से मैं इसी विन्ध्याचल की घाटी में दबा पड़ा हूं। उबरने की कोशिश तो बहुत करता हूं लेकिन उबर नहीं पाता। "ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यौ चहत त्यों-त्यों उरझति जात" वाली बात हो रही है।

उत्तर-पुस्तकें जांचने के भी अपने विचित्र अनुभव हैं। अध्यापन व्यवसाय में प्रवेश करते समय यह सबसे अधिक आकर्षक और गौरवमय काम लगता है। उस गौरव में, मन के किसी कोने में अंक देने, पास-फेल करने का दर्प भी छिपा होता है। बड़े उल्लास और उमंग से उत्तर-पुस्तकें जांची जाती हैं। पूरी उत्तर-पुस्तक पढ़ने का दायित्व-बोध सतत बना रहता है। धीरे-धीरे अनुभव बढ़ता है, आयु बढ़ती है, घर-गृहस्थी के काम का दबाव बढ़ता है और इन सबके प्रभाव से कापी जांचने का उल्लास घटता है। यह काम गौरव-गरिमा का आकर्षण खोने लगता है और रूटीन बनकर भार बन जाता है। लेकिन इस भार को वहन करने का अभ्यास पड़ जाता है, जांचने के हथकंडे हाथ लग जाते हैं, और परीक्षक महोदय मजे से ग्रीष्मावकाश में इस नाग-पिटारी को ढोते रहते हैं। बीस-पच्चीस साल, इसी तरह हम लोग परीक्षा की उत्तर-पुस्तकों

के पार्सलों से जुड़े रहते हैं। आयु की प्रौढ़ि पर यह जुड़े रहना बहुत सुखद तो नहीं लगता किन्तु लोभ की एक पतली सी डोर इस काम से हमें बांधे रहती है। क्रमशः वह डोर टूटती है और कापी जांचने का काम एकदम व्यर्थ की माथापच्ची और शरीर थकाने वाला लगने लगता है। चांदी के चन्द टुकड़ों के लिए कंचन की अनमोल काया को पीड़ा पहुंचाना कौन सी 'अक्ल की किताब' में लिखा है। मेरी समझ में यह रहस्य आठ-दस वर्ष पहले ही आ गया था, लेकिन पूरी तरह आचरण नहीं कर सका। इनकम टैक्स के लिए गर्मियों में शरीर सुखाना, दिमाग सड़ाना, कहां की बुद्धिमत्ता है ?

अध्यापक का व्यवसाय मूलतः ज्ञान-वितरण का व्यवसाय है। मैं इसे व्यवसाय इसलिए कहता हूं कि इसके साथ जीविका जुड़ी हुई है; यदि जीविका का अनुबंध न होता तो मैं इसे अध्यापक का धर्म कहता। खैर, जो भी कुछ यह है, वह पार्थिव लाभ (पद+पदार्थ) की दृष्टि से आज के परिवर्तित मूल्यों एवं परिवर्तित समाज व्यवस्था में बहुत गर्व का व्यवसाय नहीं रह गया है। मैं भौतिक सुखों की बात इस संदर्भ में नहीं करता। केवल मानसिक स्तर पर अध्यापक की नियति की चर्चा करूंगा।

मैं प्रायः अपने सहयोगियों से कहा करता हूं कि आपकी बौद्धिक स्तर पर एक नियति, पुनरावृत्ति है। अध्यापक को आजीवन आवृत्ति और पुनरावृत्ति में से गुज़रना होता है। पाठ्य ग्रंथों की आवृत्ति के लिए दोषी न होने पर भी उसका भोक्ता तो वह होता ही है। प्रायः अनिच्छा से भी उसे इस प्रक्रिया का स्वीकारना होता है। मैंने अपने जीवन में कई ग्रंथों की लम्बे अर्से तक आवृत्ति की। हर साल अगर विद्यार्थियों के नये चेहरे सामने न होते तो मैं विचित्र घुटन का अनुभव करता। अध्यापक नये चेहरों के सामने पुराने मसाले को नया बनाकर दुहराता है। और वे नये चेहरे वर्षों पुराने पाठ की आवृत्ति को नये वर्ष की मौलिक व्याख्या समझ कर शान्त चित्त सुनते और सराहते हैं। पाठ्यक्रम के साथ आवृत्ति की यह अपरिहार्य नियति अध्यापक के व्यवसाय के साथ निसर्गतः सम्पृक्त है। अतः सहज स्वीकार्य है।

परीक्षा के साथ भी अध्यापक को इस पुनरावृत्ति को झेलना पड़ता है। प्रायः सभी विद्यार्थियों के एक जैसे रटे-पिटे उत्तर बार-बार पढ़ना, एक जैसे होने पर भी उत्तर-पुस्तकों में अदल-बदल कर अंक देना और सिद्ध करना कि इन परीक्षार्थियों के ज्ञान-स्तर में वैविध्य है, अपनी-अपनी योग्यता है, इन्होंने कुछ भिन्न शैली में लिखा है, यह सब भी बताना है। किन्तु सत्य यह है कि सबने एक जैसे बाजार नोट्स पढ़े हैं और उन्हीं का वमन किया है। हां, वमन की शैली, वमन की वस्तु और वमन के छींटों में कुछ भेद हो सकता है।

उत्तर-पुस्तकें जांचने में एक कष्ट और होता है—वह कष्ट अपने दीर्घ-

कालीन अर्जित ज्ञान और अध्ययन पर ही प्रश्नचिह्न लगाने वाला होता है। वर्तनी (spellings) की जो भयंकर भूलें उत्तर-पुस्तकों में मिलती हैं उन्हें बार-बार पढ़कर अपनी शुद्ध वर्तनी पर संदेह होने लगता है। ठीक वैसे ही जैसे पंचतंत्र की कहानी का भोला ब्राह्मण अजा शिशु (बकरी का बच्चा) को सिर पर उठाकर ले जा रहा था। चार ठगों ने एक-एक मील के फासले से खड़े होकर ब्राह्मण से कहा—"हे द्विज महोदय, श्वान को सिर पर ढोकर क्यों विप्र कुल को लजाते हो !" बेचारा ब्राह्मण चार बार छाग को श्वान सुनकर चकरा गया और बकरी को पटक गया। ठीक ऐसे ही पचास बार 'कृप्या-कृप्या' पढ़कर अपने कृपया को छोड़कर 'कृप्या' पर ध्यान जाने लगता है। वर्तनी की जो भयंकर भूलें उत्तर-पुस्तकों में मिलती हैं उन्हें पढ़कर उनके शुद्ध होने का सन्देह कैसी विचित्र बात है। कभी-कभी तो परीक्षार्थी सभी कठिन शब्दों की वर्तनी अपनी सुविधा से बनाकर पूरी उत्तर-पुस्तक भर देते हैं। समझते यह हैं कि हमें पूर्णांक मिलेंगे क्योंकि पूरी उत्तर-पुस्तक भरी है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। परीक्षक महोदय बड़े सचेत होकर प्रश्नपत्र बनाते हैं। प्रश्न के द्वारा वे गहरे उतरना चाहते हैं किन्तु सावधान परीक्षार्थी सदैव स्वेच्छा से, स्वार्जित ज्ञान से, स्वकीय सीमा में रहकर उत्तर लिखते हैं। परीक्षक को गरज़ हो तो पढ़े और अंक दे। परीक्षार्थी की कोई गरज नहीं। कभी-कभी परीक्षार्थी ऐसे भरे-पूरे उत्तर लिखते हैं कि आप हज़ार कोशिश करें उसमें त्रुटि नहीं निकाल सकते। जैसे, आपने पूछा कि तुलसीदास कौन थे और किस कारण प्रसिद्ध थे ? उत्तर होगा—तुलसीदास एक महापुरुष थे और अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध थे। पूछा गया—टोकियो कहां है और क्यों प्रसिद्ध है ? उत्तर लिखा—टोकियो विश्व में है और अपनी विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध है। बताइए—इन प्रश्नों के उत्तर सम्पूर्ण हैं या नहीं ? आप कुछ कहें, परीक्षा-भवन से बाहर निकलकर ऐसे परीक्षार्थी तो छाती फुला कर यही कहते हैं कि हमारे उत्तर शत-प्रतिशत ठीक हैं। परीक्षा की कापी जांचना इसलिए बड़े मज़े का काम है। खूब ज्ञान बढ़ता है। टोकियो विश्व में है इस सही और सम्पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि उत्तर-पुस्तकों से ही होती है। विश्व में टोकियो के होने का सही पता बताकर परीक्षार्थी ने हमें इधर-उधर जापान, रूस और चीन में भटकने से बचा लिया।

कभी आपने उत्तर पुस्तकें जांचते समय सोचा है कि सबसे अच्छा, चित्त प्रसन्न करने वाला, परीक्षार्थी कौन है ? मुझे तो उस परीक्षार्थी की उत्तर-पुस्तक के पन्ने पलटकर बड़ा सुख-चैन मिलता है जो पहला पृष्ठ लिखकर काट देता है और कापी के शेष पन्ने खराब नहीं करता। आपके दिमाग पर कोई जोर नहीं पड़ा, नेत्रों को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। शून्य देकर आपने अपनी

मज़दूरी पूरी प्राप्त की। जोड़-तोड़ की कोई भूल नहीं। शून्य का जोड़ शून्य। ऐसे परीक्षार्थी एक ही कक्षा में दो-चार वर्ष जमकर बैठते हैं और प्रतिवर्ष आपको प्रसन्न-प्रमुदित करते हैं। खाली कापी का सुख परीक्षक का सबसे बड़ा सुख है।

उत्तर-पुस्तक जांचने की समस्त प्रक्रिया आदि से अन्त तक कष्टप्रद और उबाने वाली है। पार्सल छुड़ाने से पार्सल वापस भेजने तक शारीरिक तथा मानसिक दोनों तरह का कष्ट झेलना पड़ता है। कापी जांचना, अंक भरना, अंक जोड़ना, टोटल करना, परीक्षा फल तैयार करना, रिपोर्ट लिखना, पार्सल सिलना और रजिस्ट्रार को सारे कागज़-पत्र व्यवस्थित रूप से भेजना बड़े पुष्ट और बलिष्ठ पहलवान का काम है। जांचने का श्रम तो मानसिक है किन्तु जांची हुई कापियों को ठिकाने लगाना कसरती मशक्कत का धन्धा है। मेरे सामने दो पार्सल पड़े हैं। मेरे पौरुष और पुरुषार्थ को चुनौती देकर मुझे लल-कार कर सचेत कर रहे हैं। "उठो, जागो, सावधान होकर हमसे जूझो! हमारी तरफ घूर कर देखने से कुछ नहीं होगा; हमें खोलो, पढ़ो, जांचो और फिर से ठौर-ठिकाने लगाओ, इसी में तुम्हारा कल्याण है! इसी परिश्रम से नौ मास बाद चैक रूपी फल का प्रसव होगा!

मैं हतप्रभ होकर इस चुनौती को सुनता हूं, कातर भाव से बंडलों को निहारता हूं और अपने पुरुषार्थ को तौलता हूं। पौरुष को जगाता हूं। भूले-बिसरे अभ्यास को दुहराता हूं, विस्मृत गुर और हथकंडों को सान पर चढ़ा-कर धार रखता हूं और मुर्झाए मन से मैदान में उतरता हूं। सवेरे से यही सब कर रहा हूं और बीस-पच्चीस परीक्षार्थियों से जूझ चुका हूं। सूर, तुलसी, जायसी, बिहारी सबको पटकी देकर इन परीक्षार्थियों ने चित-पट किया है और उनके साथ मेरे "अधीतमध्यापितमर्जितं यशः" को भी पोंछ डाला है। ये बड़ पारंगत पंडितों की उत्तर-पुस्तकें हैं। कल ये ही मास्टर आफ आर्ट्स की (M.A.) की उपाधि लेकर विश्वविद्यालयों में ज्ञान का **उजजवल अलोक विकीरण** करेंगे!! मुझे इस ज्ञान मार्ग की सुरभित पगडंडियों से गुज़रना पड़ रहा है। हमारी यह नियति है! हम परीक्षक हैं और हमारे ही ये अध्ययन-विमुख विद्यार्थी हैं!!

खैर, छोड़िये, इस दुखड़े का क्या रोना! यह तो यों ही चला आ रहा है और चलता रहेगा। अब उस मुद्दे पर आता हूं जो आपको, मुझको और सभी परीक्षकों को इस संदर्भ में प्रिय और रंजक है। इस प्रक्रिया में एक बिन्दु ऐसा है जिस पर पहुंच कर श्रम का कुछ परिहार-सा लगता है। लेकिन वह बिन्दु कालावधि की दृष्टि से इस परीक्षण कार्य से दूर पड़ता है। अतः उसकी प्रियता का अहसास इस जांचने की प्रक्रिया से सीधे नहीं जुड़ता। जानते हैं, प्रियता का

वह बिन्दु कौन सा है—वह है पारिश्रमिक का चैक। पारिश्रमिक का यह चैक सामान्यतः परीक्षण कार्य के लगभग ९-१० मास बाद ही प्राप्त होता है। सभी स्थानों से यह चैक नियत समय पर सुलभ हो जाता है—ऐसी बात नहीं है। कई विश्वविद्यालय तो ऐसे हैं कि काम निकल जाने के बाद आपको एकदम भूल जाते हैं। कान पर ठीकरी रखकर—सब कुछ अनसुनी कर देना भी एक कला है। इस कला में हमारे विश्वविद्यालयों के बाबू लोग बड़े कुशल हैं। आप जानते ही हैं, हमारे देश में दफ्तरों की मशीन बाबू के इशारे पर चलती और बन्द होती है। आपके पारिश्रमिक के बिल को यदि बाबू जी किसी अम्बार में दबा दें तो आप लाख पत्र लिखें, तार दें, उनके कान पर जूं नहीं रेंगती क्योंकि कान में जुंओं का पक्का घर है। एक जूं हो तो रेंगे—वहां तो हज़ारों ने स्थायी तौर पर कर्ण शुष्कली को ही ढक लिया है।

दफ्तरों में दो तरह के बाबू हैं। सफेदपोश बाबू हर काम को करने का वायदा करेगा—लेकिन काम करेगा इसमें सन्देह है। काले कोट वाला बाबू मुस्तैद है किन्तु उसकी मुस्तैदी में काला पैसा ही स्पन्दन भरता है। रेलवे स्टेशन पर आपको इस काले कोट का मुस्तैदी के दर्शन सहज ही सुलभ हैं। रिज़र्वेशन बूथ पर बैठा काला कोट सदा स्थान न होने की मुद्रा में सिर हिलाता है। प्लेट फार्म पर चलता-फिरता काला कोट ना-ना करता भी हां-हां का संकेत देता है। वह संकेत काले कोट की जेब का है जिनमें काला पैसा बड़ी सहजता से सरक जाता है। धन्य है हमारा देश और धन्य हैं हमारे देश की मशीन के ये पुर्ज़े! हम निरीह अध्यापक कर भी क्या सकते हैं। बाबुओं की रोज़ी सलामत रहे।

मैं कह रहा था कि कापी जांचने के काम का अवसान-बिन्दु यदि पारिश्रमिक-प्राप्ति में है तो स्वेद कण बहाना एक सीमा तक सार्थक है। यदि इसी के लिए हमने और आपने ग्रीष्म के भीषण आतप को अपने श्रम बिन्दुओं से भरना स्वीकार किया है तो भोगिये इस भीषण यंत्रणा को! जो सुख आपने स्वयं—स्वेच्छा से स्वीकार किया है उसके लिए शिकवा-शिकायत क्यों! कापी के बंडल पर पालथी मारकर नहीं—पद्मासन लगाकर बैठिए और अपने पौरुष से इन्हें परास्त कीजिए। काटिए-छांटिए, जोड़-बाकी करिए और फिर देश के भावी होनहार युवकों का भविष्य बनाइए! आपके ऊपर बड़ा दायित्व है। राष्ट्र की भावी पीढ़ी आपकी ओर टकटकी लगाकर देख रही है कि कब आप उन्हें एम० ए० की सर्वोच्च उपाधि से विभूषित कर संसार के समर क्षेत्र में संघर्ष के लिए उतारते हैं।

परीक्षा का काम बड़ा नीरस है। मन लगाकर करें, चाहें बे-मन से करें, नियत तिथि में करना होगा। क्या करें, यही हमारी नियति है। इस वर्ष

स्वीकार करके बहुत पछता रहा हूं। अपनी कसम तो नहीं खाता, लेकिन सबसे सुगम अल्लाह की कसम, अगले साल से यह काम नहीं करूंगा। अल्लाह को क्या पता कि किसी अवकाश प्राप्त प्राध्यापक ने परीक्षण कार्य से परेशान होकर कोई झूठी कसम खाई थी। स्मरण रहे, अल्लाह से अधिक गफलत में कोई नहीं रहता। पहरेदारों और दरबानों की सुरक्षा में भी यार लोग उसके विग्रह के आभूषण चुरा ले जाते हैं। पुजारी उनका भोग चुपचाप चट कर जाते हैं। बेचारा अल्लाह गफलत में सोया रहता है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान परमात्मा को हमने अपने देवमन्दिरों में यही रुतबा दिया है! उसकी पूजा-अर्चा की यही विधि है!! तब उसकी कसम खाने में खतरा कैसा!

खैर, मैंने तो कापियां जांचते हुए यह सब लिखकर अपने श्रम का परिहार किया है। आपका मनोविनोद हो जाय तो ठीक—इसे फाड़ें नहीं। इसमें कापी जांचने की पीड़ा की कसक है। वह तो आपको भी सालती होगी।

अच्छा, नमस्ते। सस्नेह,

आपका
विजयेन्द्र स्नातक

डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
पंजाब विश्वविद्यालय,
चंडीगढ़

○○○

[96120180]